प्रथम आवृत्ति प्रति १५००

वीर सं० २४७७

मूल्य २-०-०

: मुद्रक :

जमनादास माणेकचंद रवाणी

अनेकान्त मुद्रणालय

मोटा आंकड़िया (जि० अमरेली)

प्रस्तावना

यह 'भेदविज्ञानसार' पुस्तक अपने नाम के अनुसार वास्तव में भेदविज्ञान का उपाय बतलाती है। भेदविज्ञान का अपरंपार माहात्म्य है और वह अपूर्व है। अनतकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने शास्त्रज्ञान–व्रत–तप–त्याग आदि सबकुछ किया है, किन्तु भेदविज्ञान कभी एक क्षणमात्र भी नहीं किया। पूज्य श्री कानजी स्वामी कहते हैं कि—यदि जीव एक क्षणमात्र भी स्व–पर का भेदविज्ञान करे तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। एक क्षणमात्र का भेदविज्ञान अनत जन्म–मरण का नाश करता है।

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी अपनी अपूर्व वाणी और परमश्रुत द्वारा जगत के जीवों को भेदविज्ञान का स्वरूप निरतर दर्शा रहे है। उनके उपदेश की अमृतधारा धार्मिक उत्सव के प्रसग पर तो एक महान प्रवाह का रूप धारण करती है। महान प्रवाहरूप से वहती हुई यह अमृतवाणी श्रोताजनों की महान अज्ञानरूपी शिलाओं को भी चूरचूर कर देती है। वीर सं० २४७४ के धार्मिक उत्सव के समय पूज्य स्वामीजी की वाणी का जो महान् प्रवाह बहा था उसमें से यह एक छोटा-सा प्रवाह भर लिया गया है। जो जीव इसका पान करेंगे उनकी आत्मतृषा अवश्य ही शांत होगी।

इस भेदविज्ञानसार में आये हुए प्रवचन श्री समयसारजी गाथा ३६० से ४०४ पर के हैं। सूक्ष्म ज्ञान के अभाव से प्राथमिक अभ्यासी को ऐसा लगता है कि व्याख्यान में एक

की एक बात आती है। इसलिये प्रवचन में जहां जहां न्यायों की शैली में परिवर्तन होता है उस जगह नये-नये हेडिंग दिये गये हैं; इससे पाठकों को सरलता होगी। इन व्याख्यानों में अनेक प्रकार के विधविध न्याय भरे होने पर भी उनके मूलभूत विषय की धारा प्रारम्भ से अन्त तक एक-सी चलती रही है। सर्व परद्रव्यों और परभावों से आत्मा का भिन्नत्व और अपने ज्ञानस्वभाव से एकत्व समझकर अपूर्व भेद-विज्ञान प्रगट करना यह पूज्य स्वामीजी के सर्व प्रवचनों का तात्पर्य है।

भेदविज्ञान प्रगट करने की तैयारी वाले जीव को देशना-लब्धि अवश्य होती है। सत्समागम के बिना मात्र शास्त्राभ्यास से वह देशनालब्धि नहीं हो सकती। किसी आत्मानुभवी पुरुष के पास से धर्मदेशना का साक्षात् श्रवण किये बिना कोई भी जीव शास्त्र पढ़कर भेदविज्ञान प्रगट नहीं कर सकता; इसलिये जिन आत्मार्थियों को अति महिमावंत भेदविज्ञान प्रगट करके इन संसार-दुःखों से परिमुक्त होना हो उन्हें सत्समागम से उपदेश श्रवण करके तत्व का निर्णय करना चाहिये। भेदविज्ञान ही इस जगत में सारभूत है। भेदविज्ञान से रहित जो कुछ भी है वह सब असार है। इसलिए आत्मार्थियों को प्रतिक्षण इस भेदविज्ञान की भावना करने योग्य है।

वीर संवत् २४७५
अषाढ शुक्ला २
सोनगढ़

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख—
श्री जैन स्वाध्याय-मन्दिर ट्रस्ट

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
१	द्रव्यश्रुत और ज्ञान का भेदविज्ञान	१
२	शब्द और ज्ञान का भेदविज्ञान	३४
३	रूप और ज्ञान का भेदविज्ञान	४५
४	ज्ञानस्वभाव में एकता और पर से भिन्नता सो धर्म	६४
५	वर्ण (रंग) और ज्ञान का भेदविज्ञान	७१
६	गंध और ज्ञान का भेदविज्ञान	८१
७	रस और ज्ञान का भेदविज्ञान	९१
८	सुख और धर्म का साधन भेदविज्ञान	९४
९	स्पर्श और ज्ञान का भेदविज्ञान	९८
१०	मोक्ष का कारण सम्यक्मति–श्रुतज्ञान कैसे प्रगट हो ?	११८
११	कर्म और ज्ञान का भेदविज्ञान	१३२
१२	धर्मद्रव्य और ज्ञान का भेदविज्ञान	१४२
१३	अधर्मद्रव्य और ज्ञान का भेदविज्ञान	१४४

१४	कालद्रव्य और ज्ञान का भेदविज्ञान	१४४
१५	श्री गुजराती प्रवचनसार परमागम–प्रकाशन	१४६
१६	आकाश और ज्ञान का भेदविज्ञान	१५६
१७	अध्यवसान (राग–द्वेष) और ज्ञान का भेदविज्ञान	१७७
१८	भेदविज्ञान के लिये प्रेरणा	१६२
१९	जीव के साथ ज्ञान की एकता	१६६
२०	धर्मी–अधर्मी का माप करने की रीति	१६७
२१	ज्ञानस्वभाव में निःशंक होने का उपदेश	२१६
२२	जीव की पर्यायों के साथ भी ज्ञान की एकता	२३७
२३	जहाँ रुचि वहाँ निःशंकता	२४८
२४	ज्ञानस्वभाव के अनुभव का उपदेश	२५३
२५	गाथा ३९० से ४०४ तक का भावार्थ	२६६
२६	पर से भिन्न शुद्धज्ञान के अनुभव का काव्य	२६९

★

—शुद्धिपत्रक—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	६	होता	होना
१७	१०	समझना	समझो
३८	१३	लगा	लीन
४३	४	पराजित	पराधीन
४९	२२	परिणामित	परिणमित
५५	१४	है'	'है'
७१	१६	पीला	पीला, नीला
७५	५	आमा	आत्मा
८२	१६	ज्ञत	ज्ञात
८८	२०	बिना	बिना मेरा
९५	९	होने	होने
१००	१८	सार का	का सार
१११	१	कमने	कमाने
११२	३	निश्चित्	निश्चय
११२	२२	१६३	१३३
१४०	१९	। इस	है । इस

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	६	मतालकर	मतलाकर
१४४	१६	द्रव्य स	द्रव्य से
१५५	८	होता किन्तु अल्प	होता, प्रत्युत
१५९	११	मानना है	समझना
१७९	२१	सारी	सारी
१८०	१	मे	मे से
१८३	२	रहना !	रहना ! तथा
२००	१३	अतर	अ तर
२०७	६	पदर्थों	पदार्थों
२४८	११	भोजनादि	भोजनादि

卐 वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा ११ सोमवार 卐

(१) ज्ञानस्वभाव की स्वतंत्रता की घोषणा

इन पन्द्रह गाथाओं में ज्ञानकी समय-समयकी स्वतंत्रता की घोषणा है। आत्मा का ज्ञान सर्वतंत्र-स्वतंत्र है, इससे उस पर किसी की सत्ता नहीं है और उसे किसी अन्य की सहायता की आवश्यक्ता नहीं है। आत्मा का परिपूर्ण ज्ञान-स्वभाव समस्त पर पदार्थों से बिल्कुल पृथक् है। आत्मा का ज्ञान आत्मा में है-अन्य में नहीं है।

आत्मा स्वयं ज्ञान है। आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है और पर में किंचित् भी ज्ञान नहीं है, इससे ज्ञान आत्मा से ही होता है और पर से नहीं होता-ऐसे अनेकान्त स्वभाव का वर्णन करके श्री आचार्यदेव ने इन गाथाओं में ज्ञानस्वभाव के स्वातन्त्र्य की घोषणा की है। शास्त्र इत्यादि परद्रव्य ज्ञान नहीं हैं, इसलिए वे ज्ञान का किंचित्मात्र कारण नहीं हैं। आत्मा स्वयं ज्ञान है इससे वही ज्ञान का कारण है।

(२) आचार्य भगवान के कथन का जोर

भगवान श्री, कुन्दकुन्दाचार्यदेव के मूल सूत्रों में तीन

स्थानों पर मुख्य जोर दिया गया है—(१) 'सत्थं ण याणए किंचि' अर्थात् शास्त्रादि कुछ नहीं जानते हैं—यानी उनमें पूरी अचेतनता बतलाई है। (२) 'अण्णं णाणं' अर्थात् उन अचेतन शास्त्रादि से ज्ञान पृथक् है। शास्त्र इत्यादि कुछ नहीं जानते उस (कथन) के प्रति आत्मा मे परिपूर्ण ज्ञान है—ऐसा सिद्ध हुआ। आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है और श्रुतादि में ज्ञान किंचित्मात्र नहीं है—इसप्रकार अस्ति-नास्ति से पूर्ण ज्ञानस्वभाव बताया है। और (३) 'जिणा विंति' अर्थात् जिन-देव ऐसा जानते हैं या जिनदेव ऐसा कहते हैं। प्रत्येक गाथा में 'जिणा विंति' कहकर सर्वज्ञभगवान की साक्षी दी है।

अहो! किसी अपूर्व योग में इस समयसार शास्त्र की रचना हुई है। प्रत्येक गाथा में अचिंत्य भाव भरे है, प्रत्येक गाथा परिपूर्ण आत्मस्वभाव बतला देती है।

(३) ज्ञान को पर का किंचित् भी अवलम्बन नहीं है

आत्मा स्वय ज्ञान है और श्रुत-शास्त्रादि अचेतन हैं; आत्मा में ज्ञान परिपूर्ण है और श्रुतादि मे किंचित् ज्ञान नहीं है। श्रुत मे ज्ञान नहीं है और ज्ञान मे श्रुत नहीं है, तब फिर भाई! तेरे ज्ञान में श्रुत तुझे क्या सहायता देगा? और तेरा आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है तब फिर तेरा ज्ञान परकी क्या आशा रखेगा? इसलिए ज्ञान को पर का बिलकुल अवलंबन नहीं है, अपने आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन है।

इसप्रकार आचार्यभगवान इन पन्द्रह गाथाओं में आत्मा का परिपूर्ण स्वाश्रित ज्ञानस्वभाव बतलाते हैं।

卐 वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा १२ मंगलवार 卐

(४) अपने आत्मा का हित करना हो उसे पर से भिन्न आत्मा को जानना चाहिए !

जिसे अपने आत्मा का हित करना है–कल्याण करना है उसे क्या करना चाहिए ? उसका यह अधिकार चल रहा है। प्रथम तो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान–आनन्द ही उसका स्वभाव है और पर से तथा विकार से वह पृथक् है–ऐसे आत्माकी जबतक श्रद्धा न हो तबतक शरीर-पैसा-स्त्री–पुत्रादि में से हितबुद्धि दूर नहीं होगी, और जबतक पर में हितबुद्धि या लाभ-अलाभ की बुद्धि दूर नहीं होगी तबतक स्वभाव को पहिचानने तथा राग-द्वेष को दूर करके उसमें स्थिर होने का सत्य पुरुषार्थ नहीं करेगा। इसलिये अपना हित चाहने वाले जीवों को यह जानना चाहिए कि आत्मा का स्वरूप क्या है ? उसकी किसके साथ एकता है और किसके साथ भिन्नता ? आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान–सुख आदि सबके साथ एकमेक है, और शरीर–पैसा इत्यादि से उसे पृथक्त्व है, राग से भी वास्तव में उसे पृथक्त्व है। ज्ञान–आनन्दस्वरूप यह आत्मा पर से भिन्न है–ऐसा कहने से ही आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण,

स्वाधीन और परके आश्रय से रहित, निरावलम्बी सिद्ध होता है। ऐसे आत्मा को जानना-मानना ही हित का उपाय है, वही कल्याण है, वही धर्म है, वही मंगल है।

प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है। यह जो शरीर है सो मैं नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ, मेरा आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है और पर वस्तुओं से भिन्न है, मेरे आत्मा को ज्ञान और आनन्द के लिए किसी पर वस्तु की आवश्यक्ता नहीं है। इसप्रकार अपने ज्ञानानद-स्वभावी आत्मा का स्वीकार किए विना कोई जीव धर्म नहीं कर सकता। यह आत्मस्वभाव आबालवृद्ध सबकी समझ मे आ सकता है। प्रत्येक जीव को सुख के लिए ऐसा आत्मस्वभाव ही समझना है। यहां पर आचार्यदेव उस स्वभाव को समझाते हैं।

—द्रव्यश्रुत से ज्ञान का भिन्नत्व—

श्रुत अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत है वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिए ज्ञान को और श्रुत को व्यतिरेक है-भिन्नत्व है।

(५) द्रव्यश्रुत के लक्ष से आत्मा का ज्ञान नहीं होता

आत्मा केवल ज्ञाता-द्रष्टा आनन्दस्वभावी है, उसे समझने में द्रव्यश्रुत निमित्तरूप है, इससे सर्वप्रथम उस द्रव्यश्रुत से ज्ञान को भिन्न समझाते हैं। श्री सर्वज्ञ भगवान की दिव्य-वाणी, गुरुओं की वाणी अथवा सूत्रों के शब्द—वे सब द्रव्य-श्रुत हैं, उनके आधार से इस आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

साक्षात् सर्वज्ञभगवान, गुरु या शास्त्र के लक्ष में रुकने से जो ज्ञान होता है वह भी द्रव्यश्रुत है। देव और गुरु के आत्मा का ज्ञान उसमें है, परन्तु इस आत्मा का ज्ञान उसमें नहीं है, इससे वास्तव में इस आत्मा की अपेक्षा से वह अचेतन है। जीव अपने स्वभाव की ओर ढलकर जब सच्चा समझता है तब द्रव्यश्रुत को निमित्त कहा जाता है; परन्तु देव-गुरु-शास्त्र की रुचि से आत्मस्वभाव समझ में नहीं आता। देव गुरु की वाणी से और शास्त्रों से यह आत्मा पृथक् है। द्रव्यश्रुत तो अचेतन है, उसमें कहीं ज्ञान नहीं भरा है, इसलिए द्रव्यश्रुत से ज्ञान नहीं होता, द्रव्यश्रुत के लक्ष से आत्मा समझ में नहीं आता। आत्मा स्वय ज्ञानस्वभावी है उस ज्ञानस्वभाव के द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है। अपना ही स्वभाव ज्ञाता है—वह सम्यग्ज्ञान है।

(६) वर्तमान ज्ञान को आत्मा में एकाग्र करे तो धर्म हो

द्रव्यश्रुत से आत्मा भिन्न है, देव—गुरु—शास्त्र से आत्मा भिन्न है, इससे उनके लक्ष से होनेवाला राग भी द्रव्यश्रुत में आजाता है। ऐसा समझकर उस द्रव्यश्रुत की ओर के लक्ष को छोड़कर, वर्तमान ज्ञान को अन्तर में रागरहित त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख करे तो अपना आत्मस्वभाव ज्ञात हो। वर्तमान ज्ञानपर्याय को पर की ओर एकाग्र करे तो अधर्म होता है और अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख करके वहाँ एकाग्र करे तो धर्म होता है। ज्ञानस्वभाव के आधार से जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान

है। परद्रव्य इस आत्मा से पृथक् हैं, उनके लक्ष से जो मंदकषाय और ज्ञान हो उस मंदकषाय या ज्ञान के आश्रय से सम्यग्ज्ञान नहीं होता और आत्मा समझ में नहीं आता। इतना समझले तब द्रव्यश्रुत से आत्मा को पृथक् माना कहा जाये और तभी जीव को धर्म हो।

(७) निमित्त और शुभराग हो परन्तु उससे ज्ञान नहीं होता

'द्रव्यश्रुत से आत्मा पृथक् है'—ऐसा कहने से उसमें सच्चे द्रव्यश्रुत की स्वीकृति आ जाती है। जिस जीव को आत्मा समझने की जिज्ञासा है उसे प्रथम द्रव्यश्रुत की ओर लक्ष होता है, द्रव्यश्रुत के लक्ष से शुभराग होता अवश्य है, सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की पहिचान, सत्समागम, शास्त्र-स्वाध्याय आदि निमित्त भी होते हैं और जिज्ञासु को उसके लक्ष से शुभराग होता है, परन्तु उन किन्हीं भी निमित्तों के लक्ष से आत्मस्वभाव समझ में नहीं आता। द्रव्यश्रुत आदि निमित्त और उनके लक्ष से होनेवाले राग को छोड़कर उससे रहित त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की रुचि न करे और ज्ञान को स्वोन्मुख न करे तो मिथ्याज्ञान दूर नहीं होता। जिज्ञासु जीव को श्रवण की ओर का शुभराग होता है, परन्तु यदि वह ऐसा मान ले कि श्रवण से ही ज्ञान होगा, तो वह कभी भी परलक्ष छोड़कर स्वोन्मुख नहीं होगा और उसका अज्ञान बना रहेगा। श्रवण करने से या उस ओर के लक्ष से ज्ञान नहीं होता; ज्ञान तो अपनी योग्यता से

ज्ञानस्वभाव के आधार से होता है—ऐसा समझकर पुरुषार्थ द्वारा अपने वर्तमान ज्ञान को त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख करे तो अपूर्व भेदज्ञान प्रगट हो।

(८) तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के आश्रय से ज्ञान नहीं होता!

तीर्थंकर होनेवाला जीव आत्मस्वभाव के यथार्थ ज्ञान और अवधिज्ञान सहित जन्म लेता है, और पश्चात् मुनिदशा प्रगट करके उग्र पुरुषार्थ पूर्वक आत्मस्वभाव में स्थिरता करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट करता है। ऐसा परिपूर्ण केवलज्ञान प्रत्येक जीव का स्वभाव है। सर्वज्ञ-देव को ऐसा केवलज्ञान प्रगट होने पर अपना परिपूर्ण आत्मस्वभाव और जगत के सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय एक-साथ प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् भी तेरहवें गुणस्थान में योग का कम्पन होता है। तीर्थंकर भगवान को तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म का उदय होता है और उसके निमित्त से 'ॐ'-ऐसी दिव्यध्वनि खिरती है। आत्मस्वभाव समझने में निमित्तरूप द्रव्यश्रुत है, उस द्रव्यश्रुत में सबसे उत्कृष्ट दिव्यध्वनि है, परन्तु उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान नहीं होता—ऐसा यहां बतलाना है।

(९) दिव्यध्वनि किसके होती है?

जबतक जीव के राग-द्वेषादि होते हैं तबतक उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता और उसकी वाणी भी क्रमवाली, अनेक अक्षरोंवाली और भेदरूप होती है। रागादि दूर होकर

उत्तरः—वाणी से ज्ञान नहीं होता, परन्तु स्वभाव के ओर की एकाग्रता से ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् जीव ऐसा जानता है कि पहले वाणी की ओर लक्ष था, अर्थात् सम्यग्ज्ञान होने में निमित्तरूप वाणी है। वास्तव में तो अपने आत्मा में जो भेदज्ञान प्रगट हुआ है वह (भावश्रुत) जयवंत हो-ऐसी भावना है, और शुभ विकल्प के समय भेदज्ञान के निमित्तरूप वाणी में आरोप करके कहते हैं कि 'श्रुत जयवंत हो, भगवान की और संतोंकी वाणी जयवंत हो।" परन्तु उस समय भी अन्तर में बराबर भान है कि वाणी इत्यादि परद्रव्यों से या उनकी ओर के लक्ष से मेरे आत्मा को किंचित् लाभ नहीं होता।

(१३) वाणी के कारण ज्ञान नहीं होता और न ज्ञान के कारण वाणी

आत्मा के ज्ञान में वाणी का अभाव है और वाणी में ज्ञान का अभाव है। यदि वाणी से ज्ञान होता हो तो वाणी कर्ता और ज्ञान उसका कर्म-इसप्रकार एक दूसरे को कर्ताकर्म-पना हो जाता है। इसलिए वह मान्यता मिथ्या है। और आत्मा में सच्चा समझने रूप योग्यता हो तब उस योग्यता के कारण वाणी निकलना ही चाहिए—यह मान्यता भी सच्ची नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान कर्ता और अचेतन वाणी उसका कार्य सिद्ध हो!

(१४) गौतमस्वामी आये इसलिए भगवान की वाणी खिरी—ऐसा नहीं है; और वाणी खिरी इसलिए गौतमस्वामी को ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है।

श्री महावीर स्वामी को केवलज्ञान हुआ, इन्द्रों ने समवशरण की रचना की; लेकिन छियासठ दिन तक भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। श्रावण वदी एकम के दिन गौतम स्वामी आये और वाणी खिरी। परन्तु वहाँ गौतम स्वामी आये इसलिए वाणी खिरी—ऐसा नहीं है, और वाणी खिरना थी इसलिए गौतम स्वामी आये—ऐसा भी नहीं है। वाणी और गौतम स्वामी दोनों की क्रियाएँ स्वतन्त्र हैं।

भगवान की वाणी खिरी इसलिए गौतम स्वामी को ज्ञान हुआ—ऐसा भी वास्तव में नहीं है। वाणी अचेतन है, उससे ज्ञान नहीं होता, और गौतम स्वामी आदि जीवों के ज्ञान में समझने की योग्यता हुई इसलिए भगवान की वाणी परिणमित हुई—ऐसा भी नहीं है। अचेतन परमाणु को कहीं ऐसी खबर नहीं है कि सामने पात्र जीव आया है इसलिए मैं परिणमित होऊँ! और भगवान कहीं वाणी के कर्ता नहीं हैं; वाणी तो वाणी के कारण परिणमित होती है, और जो जीव अपना आत्मस्वभाव समझने के योग्य हो वह जीव अन्तरपुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभावसन्मुख होकर समझता है, उसका ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से परिणमित होता है। अपने स्वभाव के सन्मुख होकर जानना-देखना और आनन्द का अनुभव करना वह आत्मा का स्वरूप है, परसन्मुख होकर जाने—ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है।

(१५) केवलज्ञान, कम्पन और वाणी—तीनों की स्वतंत्रता

आत्मस्वरूप में सम्पूर्ण स्थिर होने से महावीर भगवान को केवलज्ञान प्रगट हुआ, घातिकर्मों का क्षय-परमाणु की योग्यता से नाश हुआ। भगवान के अभी चार अघातिकर्म सयोगरूप थे और आत्मा में योग का कम्पन था, उसके निमित्त से दिव्यध्वनि खिरती थी, वहां केवलज्ञान या कम्पन के कारण वाणी परिणमित नहीं होती थी। क्योंकि तेरहवें गुणस्थान मे केवलज्ञान और कम्पन तो सदैव हैं, इससे यदि उनके कारण वाणी परिणमित होती हो तो वह हमेशा होना चाहिए,-लेकिन वाणी तो अमुक समय ही होती है, क्योंकि उसका परिणमन स्वतन्त्र है। पुनश्च, दिव्यध्वनि खिरना है इसलिए भगवान को योग का कम्पन है ऐसा भी नहीं है। कम्पन तो जीव के योगगुण की अशुद्ध दशा है, और वाणी जड़ की दशा है। दोनों अपने अपने कारण स्वतन्त्र होते हैं।

भगवान को केवलज्ञान और कम्पन हैं इसलिए वाणी खिरती है ऐसा नहीं है।

वाणी खिरती है इसलिए केवलज्ञान और कम्पन बने हुए है ऐसा नहीं है।

कंपन के कारण केवलज्ञान बना हुआ है ऐसा नहीं है, और केवलज्ञान के कारण कम्पन नहीं है।

केवलज्ञान स्वतन्त्र, कम्पन स्वतन्त्र और वाणी स्वतन्त्र है।

(१६) भगवान की वाणी और गौतमस्वामी का ज्ञान–दोनों एक ही समय में हुए, फिर भी वे एक दूसरे के कारण नहीं हैं।

अब, भगवान की वाणी खिरती है उस वाणी के कारण दूसरे जीवों को ज्ञान नहीं होता। दूसरे जीवों को ज्ञान होता है इसलिए वाणी खिरती है-ऐसा भी नही है। जब महावीर भगवान की वाणी खिरी तब परमाणुओ की योग्यता से छूटी है और गौतमस्वामी को जो ज्ञान प्रगट हुआ वह उनके आत्मा की योग्यता से हुआ है। वे दोनों कार्य एक ही काल में हुए इस से कहीं एक दूसरे के कर्ता नही हैं। वाणी-रूप पर्याय को पुद्गल परमाणु प्राप्त होगये है, इससे वह पुद्गल का कार्य है। कहीं गौतमप्रभु वाणीपर्याय को प्राप्त नहीं हो गये है। उसीप्रकार गौतमस्वामी की ज्ञानपर्याय में उनका आत्मा ही प्राप्त हुआ है कहीं वाणी उस ज्ञानमें प्राप्त नहीं हो गई है। इसलिये वाणी के कारण ज्ञान नहीं हुआ और गौतम प्रभु के कारण भगवान की वाणी नहीं हुई। इस जगतमें अनन्त पदार्थो के भिन्न-भिन्न कार्य एक साथ एक समय होते है, इससे कहीं कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कर्ता नही है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ करे–ऐसा वस्तुस्वभाव ही नहीं है।

(१७) वाणी के आश्रय से राग की उत्पत्ति है और स्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति है।

द्रव्यश्रुत अर्थात् भगवान की वाणी अचेतन है, उसके लक्ष से

राग की उत्पत्ति होती है। वाणी के लक्ष से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु आस्रवकी उत्पत्ति होती है। वाणी के लक्ष से जो ज्ञान होता है वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञान-स्वभाव के साथ अभेद होकर जो ज्ञान परिणमित हो वह आत्मस्वभाव है। भगवान की वाणी के लक्ष से पुण्यभाव होता है, वह भी अचेतन है, वह धर्म का या सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं है।

आत्मा स्वय चेतन है, उसका अवलम्बन छोड़कर यदि अचेतन वाणी के अवलम्बनरूप परिणमित हो तो आस्रव-भाव है, उस समय जो शुभभाव होते हैं उनसे चार घातियाकर्म भी बंधते हैं और घातिकर्म पापरूप ही हैं। इसप्रकार द्रव्यश्रुत के लक्ष से पुण्यभावरूप आस्रव होता है। इससे जड़ के आश्रय से जो ज्ञान होता है वह अचेतन है, क्योंकि वह ज्ञान चेतन के विकास को रोकनेवाला है। चेतनरूप ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है और संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव की उत्पत्ति होकर आस्रवका नाश होता है। इसप्रकार जो जीव जानता है वह अपने ज्ञानस्वभाव के स्वामित्वरूप ही परिणमित होता है, वह अपने को अचेतन वस्तु का कर्ता या स्वामी नहीं मानता और अचेतन के आश्रय से होनेवाले ज्ञान जितना अपने को नहीं मानता। जो रुपयों की तिजोरी मे हाथ डाले उसे रुपये मिलते हैं और जो चिरायते की थैली मे हाथ डाले उसे चिरायता मिलता है—इस दृष्टान्त पर से समझना चाहिए कि—जो अचेतन वाणी की रुचि और विश्वास करता है उसे

अपनी वर्तमान दशा मे रागादि की और अज्ञान की ही प्राप्ति होती है; और जो ज्ञानादि अनन्त गुणों के भण्डार-रूप अपने स्वभाव की रुचि और विश्वास करता है उसे अपनी पर्याय में भी सम्यग्ज्ञान और शांति की प्राप्ति होती है। इसलिए जिसे अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, शांति, सुख आदि प्रगट करना हो उसे कहीं बाह्य में न देखकर अनन्त गुणस्वरूप अपने आत्मस्वभाव में देखना चाहिए। आत्मस्वभावोन्मुख होने से सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि प्रगट होते हैं। और उसके बिना वाणी–शास्त्रादि बाह्य वस्तुओं के लक्ष से चिरायते जैसे आस्रव और बंधभाव होते हैं।

(१८) अपूर्व भेदज्ञान के लिए अमृत के इन्जेक्शन

अहा! आचार्यदेव ने ज्ञानस्वभाव की अपूर्व बात कही है। वाणी अचेतन है, उसके आधार से ज्ञान नहीं होता; ज्ञानस्वभाव के आधार से ही ज्ञान होता है। अहो! यह भेदविज्ञान की परम सत्य बात है, आत्मकल्याण का मार्ग है। परन्तु जिसे अपने कल्याण की दरकार नहीं है और जगत के आदर–मान की दरकार है—ऐसे तुच्छबुद्धि जीवों को यह बात नहीं रुचती अर्थात् वास्तव में उन्हें अपने ज्ञानस्वभाव की ही रुचि नहीं है और विकारभाव रुचता है; इससे ऐसी अपूर्व आत्मस्वभाव की बात कान में पड़ने से ऐसे जीव पुकार करते हैं कि–'अरे! आत्मा पर का कुछ नहीं करता– ऐसा कहना तो विष के इन्जेक्शन देने जैसा है!' अहो, क्या किया जाये! यह भेदज्ञान की परम

अमृत जैसी बात भी जिन्हें विष जैसी लगी! इनकी पर्याय का परिणमन भी स्वतन्त्र है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, विकार का-और पर का वह अकर्ता है-ऐसी भेदज्ञान की बात तो अनादिकाल से जो मिथ्यात्वरूपी विष चढ़ा है उसे उतार देने के लिए, परम अमृत के इन्जेक्शन जैसी है। यदि आत्मा एकबार भी ऐसा इन्जेक्शन ले तो उसके जन्म-मरणका रोग नष्ट होकर सिद्धदशा हुए बिना न रहे। आत्मा और विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, परिपूर्ण है, निरावलम्बी है-ऐसा सम्यक्बोध तो परम अमृत है कि विष? ऐसा परम अमृत भी जिन जीवों को विष के इन्जेक्शन जैसा लगता है उन जीवों को उनके मिथ्यात्वभाव का बल ही वैसा पुकार रहा है! यह तो निजकल्याण करने के लिए और मिथ्यात्व-रूपी विष को दूर करने के लिए अचूक अमृत का इन्जेक्शन है। अपने परिपूर्ण स्वभाव का विश्वास करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो अर्थात् धर्म का पहले से पहला प्रारम्भ हो, और उसका विश्वास न करने से वाणी का या राग का ही विश्वास करे तो उस जीव को मिथ्यात्वरूप अधर्म ही होता है।

(१९) आत्मस्वभाव का आश्रय करना वह प्रयोजन है!

आत्मस्वभाव समझने में, समझने से पूर्व और समझने के पश्चात् भी सत्श्रुत निमित्तरूप होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं है। परन्तु यदि निमित्तों का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव का आश्रय करे तभी जीव को सम्यग्ज्ञान होता

है; और इसप्रकार स्वाश्रय से सम्यग्ज्ञान प्रगट करे तभी श्रुत को वास्तव में उसका निमित्त कहा जाता है और उसके द्रव्यश्रुत के ज्ञान को व्यवहारज्ञान कहा जाता है। इसप्रकार यहाँ निमित्त का-व्यवहार का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय करना ही प्रयोजन है। वही धर्म का मार्ग है।

(२०) ज्ञानी सारे दिन क्या करते हैं ?

प्रश्नः—यदि श्रुत-शास्त्र ज्ञान के कारण नहीं हैं, तो फिर ज्ञानी दिनभर समयसार-प्रवचनसारादि शास्त्रों को हाथ में रखकर स्वाध्याय क्यों करते हैं ?

उत्तरः—प्रथम यह समझना कि आत्मा क्या है ? ज्ञान क्या है ? शास्त्र क्या हैं ? और हाथ क्या हैं ? हाथ और शास्त्र-दोनों तो अचेतन हैं, आत्मा से भिन्न हैं, उनकी क्रिया तो कोई आत्मा करता ही नहीं। ज्ञानी को स्वाध्याय आदि का विकल्प हुआ और उस समय ज्ञान में उसप्रकार के ज्ञेयों को ही जानने की योग्यता थी, इससे ज्ञान होता है, और उससमय निमित्तरूप समयसारादि शास्त्र उनके अपने कारण से स्वयं होते हैं, वहाँ ज्ञानी ने तो आत्मस्वभाव के आश्रय से ज्ञान ही किया है। हाथ की, शास्त्र की या राग की क्रिया भी उसने नहीं की है। शास्त्र के कारण ज्ञान नही होता, और जीव के विकल्प के कारण शास्त्र नहीं आये हैं। ज्ञान का कारण अपना ज्ञानस्वभाव होता है या अचेतन वस्तु ? जिन्हें अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं है और अचेतन श्रुत के कारण अपना ज्ञान मानते हैं, उन्हें

सम्यग्ज्ञान नहीं होता। यह भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। सर्वज्ञ वीतरागदेव की साक्षात् वाणी ज्ञान का असाधारण–सर्वोत्कृष्ट निमित्त है, वह अचेतन है, उसके आश्रय से–उसके कारण से भी आत्मा को किंचित् ज्ञान नहीं होता, तब फिर अन्य निमित्तों की तो बात ही क्या है !

(२१) भेदज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता

कोई ऐसा कहे कि–पहले तो वाणी आदि निमित्तों के लक्ष से ही आत्मा आगे बढ़ता है न ? तो उससे कहते हैं कि भाई ! वाणी के लक्ष से अधिक तो पापभाव दूर होकर पुण्यभाव होगा, परन्तु वह कहीं आगे बढ़ा नहीं कहलायेगा; क्योंकि शुभभावों तक तो यह जीव अनंतबार आचुका है। शुभ–अशुभ से आत्मा का भेदज्ञान करके स्वभाव में आये तभी आगे बढ़ा कहा जाता है। निमित्त के लक्ष से कभी भी भेदज्ञान नहीं होता, अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करे तभी आगे बढे और भेदज्ञान प्रगट करके पूर्णता प्राप्त करे।

(२२) आचार्यदेव के कथन में गर्भितरूप से नवों तत्व आ जाते हैं

श्री आचार्यदेव की शैली बहुत गम्भीर है। प्रत्येक सूत्र का जितना विस्तार करना हो उतना हो सकता है। 'श्रुत है वह ज्ञान नहीं है'–ऐसा कहने से उसमें नवों तत्व गर्भितरूप से आ जाते हैं। [१] स्वयं जीवतत्व चेतन है। [२]

अपने से भिन्न द्रव्यश्रुत है वह अचेतन-अजीवतत्त्व है। [३] अपने लक्ष से च्युत होकर उस अजीव की (वाणी की) ओर लक्ष करने से शुभराग होता है वह पुण्यतत्त्व है। [४] अशुभ है वह पापतत्व है। [५] वाणी के लक्ष से होनेवाला विकार है वह आस्रवतत्व है। [६] प्रतिसमय विकार चालू है और उस विकार में ज्ञान रुकता है-उसका नाम बंधतत्व है। [७-८] वाणी और आत्मा को भिन्न जानकर यदि अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हो तो सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं वह संवर-निर्जरा तत्व है। और [९] आत्मस्वभाव में लीन होने से रागादि दूर होकर ज्ञान की पूर्णता होती है-वह मोक्षतत्व है।

(२३) मोक्ष कैसे होता है?

मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा वाणी आदि से पृथक् हूँ-ऐसा जिसने निर्णय किया वह अपने ज्ञान को पर का अवलम्बन नहीं मानता। उसे अपने अन्तरस्वभाव के आश्रय से आत्मा का ज्ञान प्रगट होता है और प्रतिक्षण शुद्धता की वृद्धि होती जाती है।

'मुझे मोक्ष करना है अथवा मुझे धर्म करना है'-ऐसा अन्तर में गोखता रहे तो उससे कहीं धर्म नहीं होगा। मोक्ष कैसे होता है वह बतलाने वाली संतोंकी वाणी के लक्ष में रुक जाये तो भी मोक्ष नहीं होगा। अपनी वर्तमान पर्याय में से विकार हटाकर मोक्षदशा प्रगट करना है-इस-प्रकार पर्याय पर देखते रहने से भी मोक्ष नहीं होगा-धर्म

नहीं होगा, परन्तु वह वाणी और अपूर्ण पर्याय में नहीं हूँ– ऐसा समझकर उसका लक्ष्य छोड़कर परिपूर्ण आत्मस्वभाव का आश्रय करने से निर्मल दशा प्रगट होती है, और पराश्रय से होने वाले मिथ्यात्व–रागादि भाव दूर होजते हैं। आत्मा ज्ञान–आनन्द का बिंब है, उसमें परिपूर्ण ज्ञान–सामर्थ्य है, उस सामर्थ्य का विश्वास करके उसका अनुभव करने से पर्याय में पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य प्रगट होता है। यही मुक्ति का उपाय है ?

(२४) यदि वाणी से ज्ञान नहीं होता तो जिज्ञासु लोग सुनने क्यों आते हैं ?

प्रश्नः—यदि आत्मा मे ही पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भरा है और वाणी से ज्ञान नहीं होता, तो यह सब जिज्ञासु यहां सुनने क्यो आते हैं ? अपने मे भरा है उसमे से क्यों नहीं निकालते ?

उत्तरः—यहां सुनने आते हैं इसमें आत्मा क्या करता है ? उसका विचार करो। आत्मा कहीं जड़ शरीर को उठा नहीं लाया है, शरीर का क्षेत्रान्तर उसके अपने कारण से हुआ है और आत्मा का क्षेत्रान्तर उसके अपने कारण से हुआ है। जिज्ञासु जीवों को सत्श्रवण की इच्छा होती है वह शुभराग है, उस राग के कारण या श्रवण के कारण ज्ञान नहीं होता। और, सत्श्रवण की इच्छा हुई इसलिए आत्मा का क्षेत्रान्तर हुआ–ऐसा भी नहीं है; क्योंकि इच्छा है वह चारित्र का विकार है और क्षेत्रान्तर होना वह क्रियावती शक्ति की

अवस्था है। दोनों पृथक् पृथक् गुणों के कार्य हैं। एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्याय में कुछ भी कार्य नहीं करती, तब फिर आत्मा परवस्तु में क्या करेगा? श्रवण करते समय भी शब्दों के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान की उस समय की पर्याय की वैसी ही योग्यता है, इससे उस समय सम्मुख वैसे ही शब्द निमित्तरूप स्वयं होते हैं। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है; परन्तु वैसा नहीं है। आत्मा की समझ तो अन्तर्स्वभाव के आश्रयरूप पुरुषार्थ से ही होती है। जिज्ञासु जीवों को कुगुरु का संग छोड़कर सत्पुरुष की वाणी श्रवण करने का भाव आता है, परन्तु 'मेरा ज्ञान वाणी के कारण नहीं है, वाणी के लक्ष से भी मेरा ज्ञान नहीं है; अन्तर में ज्ञान-स्वभाव में से ही मेरा ज्ञान आता है'—ऐसा निश्चय करके यदि स्वभावोन्मुख हो तभी सम्यग्ज्ञान होता है। वाणी के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार सत् का श्रवण करने वाले जीव का ज्ञान स्वतन्त्र है, इच्छा स्वतंत्र है, क्षेत्रान्तर स्वतन्त्र है, शरीर की क्रिया स्वतंत्र है और सामने वाले की वाणी भी स्वतंत्र है।

(२५) भगवान की वाणी अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं है; ज्ञान तो आत्मा के आश्रित है।

द्रव्यश्रुत स्वयं ज्ञान नहीं है और उसके आश्रय से भी ज्ञान नहीं होता। श्री कुंदकुंदाचार्य स्वयं महाविदेह क्षेत्र में जाकर सर्वज्ञदेव श्री सीमंधर भगवान की दिव्यवाणी का

आठ दिन तक श्रवण कर आये थे। वे इस गाथा में कहते हैं कि भगवान की दिव्यध्वनि तो अचेतन है, उसमें आत्मा का ज्ञान नहीं है। भगवान की वाणी भी ऐसा ही बतलाती है कि ज्ञान की उत्पत्ति वाणी के कारण नहीं होती। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसीके आश्रित उसका ज्ञान है।

वाणी अचेतन है, उसमे ज्ञान नही है—यह व्यतिरेकपना कहा है, और ज्ञान आत्मा है—यह अन्वयपना है। अर्थात् आत्मा अपने स्वभाव से अनन्त गुणों से परिपूर्ण है और वाणी आदि से बिलकुल पृथक् है—इसप्रकार अस्ति-नास्ति द्वारा आचार्यदेव आत्मस्वभाव बतलाते हैं।

अचेतन वाणी के लक्ष से होने वाला विकल्प और ज्ञान का विकास भी वास्तव मे अचेतन हैं। वाणी के लक्ष से होने वाले विकल्प की या विकास की बात न करके वाणी को ही अचेतन कहा है, उसमें वाणी के आश्रय से होने वाले भाव भी अचेतन हैं—यह बात आजाती है। आचार्यदेव कहते हैं कि वाणी के आश्रय से तेरा ज्ञान प्रगट नहीं होगा। राग की भूमिका मे वाणी की ओर लक्ष जाता अवश्य है, परन्तु यदि वाणी का अवलम्बन मानकर रुक जाये तो वह मिथ्याज्ञान है। वाणी के अवलम्बन से रहित पूर्ण ज्ञान-स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। ज्ञान और वाणी पृथक् है। ज्ञान मे से वाणी नहीं निकलती और वाणी मे से ज्ञान प्रगट नहीं होता। ज्ञान मे जैसी योग्यता हो वैसी ही वाणी निमित्तरूप होती है—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, वहां अज्ञानी जीव भ्रम से ऐसा मानता है कि

वाणी के कारण ज्ञान होता है; इससे वह वाणी का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय नहीं करता-इससे उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ऐसे जीव को वाणी से ज्ञान की भिन्नता बतलाते है। ज्ञान चेतन है और वाणी जड़ का परिणमन है। ज्ञान और वाणी दोनों अपनी-अपनी पर्याय में क्रमबद्ध स्वतंत्र-रूप परिणमित होते हैं।

(२६) द्रव्यदृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ बिना क्रमबद्ध पर्याय की या केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती।

प्रश्नः—यदि प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध होती है, तो रागादि-भाव होते हैं वे भी क्रमबद्ध होते हैं न? तो फिर उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ नहीं रहता ?

उत्तरः—जिसे क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा हुई हो उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि द्रव्यदृष्टि के बल से ही अनादिअनन्त क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होती है; द्रव्य-दृष्टि हुए बिना क्रमबद्ध पर्याय की यथार्थ श्रद्धा नहीं होती। और द्रव्यदृष्टि होने से जीव राग को अपना स्वरूप नहीं मानता, क्योंकि त्रिकाली द्रव्य में राग नहीं है। इससे वह जीव वास्तव मे राग का ज्ञाता ही रहता है-इससे परमार्थ से उसे राग नहीं होता किन्तु टलता ही जाता है। मेरी और जगत के समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है-ऐसा निर्णय करने वाला जीव एक-एक पर्याय को नहीं देखता किन्तु द्रव्य के त्रिकाली स्वरूप को देखता है। ऐसा जीव राग की योग्यता को नही देखता क्योंकि त्रिकाली स्वभाव

से राग की योग्यता नहीं है—इससे त्रिकाली स्वभाव में एकता के बल से उसका राग दूर ही होता जाता है। ऐसे त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि करने में रागरहित श्रद्धा-ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ कार्य कर रहा है। क्रमबद्ध पर्याय का विश्वास करने से तो पर का, विकार का और पर्याय का आश्रय छूटकर मात्र अभेद स्वभाव का ही आश्रय रहता है, उस स्वभाव में से राग की उत्पत्ति होती ही नहीं—इससे क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा वाले सम्यग्दृष्टि को क्रमशः स्वभाव की एकता ही होती जाती है और राग क्रमशः दूर ही होता जाता है। स्वभावदृष्टि के कारण उसके स्वभाव की उत्पत्ति का क्रम है और राग दूर होने का क्रम है। तो फिर "राग होना होगा तो होगा"—यह बात कहाँ रही? राग के ऊपर ही जिसकी दृष्टि है उसे तो राग और आत्मा के भेद का विचार ही नहीं है, उसे तो राग ही आत्मा है—इससे उसके राग की ही उत्पत्ति होती है, लेकिन जिसकी रागरहित चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है और राग का निषेध है—उसके तो स्वभाव की निर्मलता की ही उत्पत्ति होती है और राग दूर होता जाता है। सम्यग्दृष्टि को चारित्र की निर्बलता से जो अल्पराग होता है वह वास्तव में उत्पत्ति-रूप नहीं, किन्तु टलने के लिए ही है, क्योंकि राग होता है उस समय भी राग का नहीं किन्तु द्रव्य का ही आश्रय है।

स्व और पर समस्त पदार्थ क्रमबद्ध पर्याय मे परिणमित होते हैं—ऐसा निर्णय करने पर ही, ज्ञान का क्रम ज्ञान से और वाणी का क्रम जड़ से—इसप्रकार दोनों का भेद-

ज्ञान होकर ज्ञान अपने स्वभाव में ढलता है। स्वभावोन्मुख हुए बिना क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय नहीं हो सकता। जिस प्रकार स्व-द्रव्योन्मुख हुए बिना स्व-पर की क्रमबद्ध पर्याय का यथार्थ निर्णय नहीं होसकता, उसीप्रकार स्व-द्रव्य के निर्णय बिना यथार्थतया केवली भगवान का भी निर्णय नहीं होसकता। स्वयं राग से अंशतः पृथक् हुए बिना पूर्ण रागरहित केवलज्ञानी का निर्णय कैसे कर सकेगा? राग और ज्ञान के बीच का भेदज्ञान हुए बिना रागरहित केवलज्ञान की परमार्थ से प्रतीति नहीं होती, इससे ऐसा बतलाया है कि स्वद्रव्य के स्वभाव के निर्णय से ही धर्म होता है। केवली भगवान का निर्णय करने में भी परमार्थ से तो अपने आत्मद्रव्य के निर्णय का ही पुरुषार्थ है। आत्मनिर्णय के पुरुषार्थ बिना केवली भगवान के वचनों की भी यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती।

(२७) इस आत्मा में दूसरे केवली भगवान का अभाव है

केवलज्ञानी भगवान के लक्ष से भी जो ज्ञान हो वह अचेतन है। केवली भगवान स्वयं अपने में परिपूर्ण ज्ञान-रूप हैं, परन्तु इस आत्मा की अपेक्षा से केवली भगवान परद्रव्य है—अचेतन है। इस आत्मा के चैतन्यत्व में केवली भगवान का अभाव है, इसलिए इस आत्मा की अपेक्षा से केवली प्रभु अचेतन हैं। केवली भगवान अपने में परिपूर्ण हैं और मेरे लिए वे शून्य हैं-मुझमें केवली भगवान का

अभाव है। केवली का ज्ञान भी मेरे ज्ञान का कारण नहीं है, और उनकी वाणी भी मेरे ज्ञान का कारण नहीं है। मैं अपने में ज्ञान-दर्शन-सुख-पुरुषार्थ से परिपूर्ण हूँ, और मेरे ज्ञानादि का केवली भगवान में अभाव है। इसप्रकार अपनी परिपूर्णता का निर्णय करके ज्ञान स्वोन्मुख हो वह धर्म है। निर्बल अवस्था में अल्प रागादि होते हैं-उस समय भी अपने पूर्ण वीतरागी स्वभाव की प्रतीति और अवलंबन धर्मात्मा को नहीं छूटते।

(२८) वाणी और ज्ञान का भिन्न-भिन्न स्वभाव

वाणी अपनी अचेतनता से परिपूर्ण है और मैं अपने चेतनत्व से भरा हुआ हूँ। मेरे ज्ञान को वाणी की आवश्यक्ता नहीं है और वाणी को मेरे ज्ञान की आवश्यक्ता नहीं है— ऐसा जानकर जीव वाणी का और वाणी की ओर के रागादि का आश्रय छोड़कर चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेता है। चैतन्यस्वभावी आत्मद्रव्य के लक्ष से प्रतिसमय स्वभाव की शुद्धता बढ़ती जाती है, ऐसे सर्वविशुद्धज्ञान का इस अधिकार में निरूपण है।

(२९) स्वतंत्र चैतन्यभगवान

प्रत्येक जीव स्वतंत्र चैतन्यभगवान है, अपने स्वभाव-सामर्थ्य से परिपूर्ण है, उसके स्वभाव में किंचित् अपूर्णता-न्यूनता नहीं है कि उसे किसी दूसरे की सहायता लेना पड़े। और दूसरे जीव या जड़ पदार्थ भी अपूर्ण नहीं हैं कि वे इस जीव की सहायता की अपेक्षा रखें। जो जीव स्वयं

अपनी पात्रता प्रगट करेगा वह अपने ज्ञानसामर्थ्य से सत् को समझेगा; उसमें कोई दूसरा उसे समझाने या रोकने मे समर्थ नहीं है। यह आत्मा स्वयं समझने के लिए किसी अन्य की–देव–गुरु–शास्त्र की, शरीर–मन–वाणी की या राग की अपेक्षा नहीं रखता। सामान्य चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट करके पूर्ण होता है। जीव–अजीव–पुण्य–पाप–आस्रव–बंध–संवर–निर्जरा और मोक्ष ऐसे नवतत्वके विकल्पोसे भिन्न, नवतत्व के भेद से पार जो अखण्ड, रागरहित चैतन्यतत्व है, उसी के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है, उसी की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन होता है और उसी में एकाग्रतारूप स्वरूपरमणता से सम्यक्चारित्र होता है–यही मोक्ष का उपाय है।

(३०) श्रुत के लक्ष से धर्म नहीं होता

आचार्यभगवान कहते हैं कि तेरा आत्मस्वभाव तुझसे ही है, श्रुत के कारण तेरा स्वभाव नहीं है। श्रुत को और आत्मा को भिन्नत्व है। यदि तू ऐसा मानेगा कि–'श्रुत हो तो आत्मा का लक्ष हो, श्रुत के लक्ष से आत्मा समझ में आता है अथवा नवतत्वों को जानने से (नवतत्वों के लक्ष से) आत्मा समझ में आता है'—तो तेरा लक्ष श्रुत पर से, नव तत्वों के भेद पर से कभी नहीं हटेगा और कभी अभेद चैतन्यद्रव्य का लक्ष नहीं होगा,—इससे मिथ्यात्व दूर नहीं होगा और सदैव पुण्य–पाप–आस्रव और बंधभाव ही होते रहेंगे किन्तु संवर-निर्जरा या मोक्षरूप धर्म नहीं होगा। इसलिये हे भव्य!

तू श्रुत से और श्रुत की ओर के विकल्पों से भिन्न अपने चैतन्य-स्वभाव का विश्वास कर। जो अपने चैतन्यस्वभाव का विश्वास करता है उस जीव को स्वाश्रय से निर्मल धर्म प्रगट होता है।

(३१) देव–शास्त्र–गुरु के आश्रय से मुक्ति नहीं है

स्वाधीन आत्मतत्व को पर के आधार से मुक्ति होती है–ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और मनवानेवाले कुगुरु-कुदेव–कुशास्त्र हैं। 'हम सर्वज्ञ हैं, देव हैं, यदि तुझे कल्याण करना हो तो हमारा आश्रय कर, हमारी ओर लक्ष करने से तेरी मुक्ति हो जायेगी, हमारी भक्ति से तेरा कल्याण हो जाएगा' ऐसा मनवानेवाले कुदेव हैं और उन्हें देवरूप से माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। यह आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि अपनी मुक्ति के लिए उसे किसी अन्य का आश्रय लेना पड़े। ईश्वर की भक्ति करो तो वह मुक्ति देता है अथवा शुभ-राग से मुक्ति मिलती है–ऐसा माननेवाले जीव मूढ–मिथ्या-दृष्टि हैं। राग से या जड़ से-शास्त्रों से–वाणी से आत्मा को धर्म मनाते हों वह शास्त्र कुशास्त्र हैं और वैसे जीव अज्ञानी–कुगुरु हैं। शास्त्र में कभी ऐसा भी कथन आता है कि 'यदि जीव ज्ञानी पुरुष को पहिचानकर एकबार अर्पित होजाये तो उसको मुक्ति हुए बिना न रहे।' वहाँ जीव को अपना मिथ्या-आग्रह और स्वच्छंद छुड़ाने तथा देशनालब्धि बतलाने का प्रयोजन है। ज्ञानी को पहिचानने में अपना पुरुषार्थ है और ज्ञानी पुरुष जैसा शुद्ध आत्मा कहते है वैसा ही स्वयं समझे तभी ज्ञानी पुरुष की ओर सच्ची अर्पणता हुई कहलाती है;

और इसप्रकार की अर्पणता करे उसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। परन्तु मात्र श्रीगुरु के प्रति शुभराग करके अर्पित होजाना उसे मुक्ति का कारण कहने का शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। श्रीगुरु के प्रति राग करके रुक जाये, परन्तु वे जैसा आत्म-स्वभाव कहते हैं वैसा स्वयं न समझे तो मुक्ति नहीं होगी।

(३२) अपूर्व सम्यक्त्व धर्म किसे प्रगट होता है?

यथार्थ वस्तुस्वभाव को दर्शाने वाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं और उनसे विरुद्ध कथन करके आत्मा को परा-धीन मनानेवाले कुगुरु कुदेव-कुशास्त्र कैसे होते हैं-उसकी पहि-चान आत्मस्वभाव समझने के जिज्ञासुओं को प्रथम करना चाहिए। उसी प्रकार सुदेवादि द्वारा कहा गया प्रत्येक वस्तु का स्वतंत्र परिपूर्ण स्वरूप किस प्रकार है—वह समझना चाहिए। और कुदेव-कुशास्त्र तथा कुगुरु का श्रद्धान छोड़कर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना चाहिए। देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष से ऐसी श्रद्धा करना वह व्यवहारश्रद्धा है, यदि उसी के लक्ष में रुका रहे, तो भी मिथ्यात्व दशा दूर नहीं होगी। पर लक्ष से हटकर राग और विकल्प का अवलम्बन छोड़कर अपने शुद्धात्मा की प्रतीति करे वह निश्चयश्रद्धान है वह अपूर्व धर्म है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करने से गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है और परमार्थ आत्मतत्व की श्रद्धा करने से अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर अपूर्व सम्यक्त्व प्रगट होता है। परमार्थ आत्मतत्व का श्रद्धन करे तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को सच्चा व्यवहार कहा जाता है।

(३३) सत्–असत् के विवेक विना धर्म नहीं होता

'यह भी सच्चा और इससे विरुद्ध दूसरा भी सच्चा, सब अपनी–अपनी अपेक्षा से सच्चे हैं; हमे किसी को मिथ्या नहीं कहना चाहिए'—इस प्रकार यथार्थ और मिथ्या का विवेक किए विना जो भ्रम से वर्तन करते हैं वे तो मूढदृष्टि है, उनसे सत्–असत् की परख करने जितनी ज्ञानशक्ति प्रगट नहीं हुई है। पर से लाभ होता है या देव–गुरु–शास्त्र इस आत्मा को लाभ करते हैं अथवा उनके लक्ष से धर्म होता है–ऐसा मार्ग तीन काल मे सत्य नहीं है। किसी भी एक तत्व को दूसरे तत्व से वास्तव में कोई लाभ–हानि मनाये तो वह सत्यमार्ग नहीं है।

(३४) सच्चे देव–गुरु–शास्त्र स्वाश्रय करने को कहते है

सच्चे देव–गुरु–शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि–तेरा तत्व अपने से पूर्ण है। हम पृथक् हैं और तू पृथक् है। कहीं हमारे आश्रय से तेरा तत्व विद्यमान नहीं है। तेरे आत्मा को हमने उत्पन्न नहीं किया है कि तुझे हमारा आधार हो। जगत मे समस्त तत्व अनादि–अनन्त स्वयंसिद्ध भिन्नभिन्न और परिपूर्ण है। हमारा अवलम्बन करने से तेरा सम्यग्ज्ञान या वीतरागता विकसित नहीं होंगे। हमारे आश्रय के विना और हमारी अपेक्षा के विना, अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही तुझे सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होगी। इस प्रकार यथार्थ समझकर अपने ज्ञान को स्वभावोन्मुख करना अर्थात् स्वभाव के

आश्रय से परिणमित होना वह धर्म है। उसी में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र आदि सभी आ जाते हैं।

(३५) आत्मा का स्वरूप

आत्मा ज्ञानमूर्ति है वह अन्य समस्त वस्तुओं से भिन्न है। वह स्वयं किसी अन्य का कार्य नहीं है, अर्थात् वह अपने ज्ञान–आनंद आदि कार्यों के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता और स्वयं किसी दूसरे का कार्य नहीं करता। दूसरे के लक्ष से होने वाले पुण्य-पाप के भाव भी उसका स्वरूप नहीं है। श्रुत भी आत्मा से पृथक् है, उसके लक्ष से आत्मा को धर्म नहीं होता। यहाँ 'श्रुत' से आत्मा को भिन्न कहने से श्रुत अर्थात् द्रव्यश्रुत और उसके लक्ष से, होने वाले रागादि विकल्प समझना चाहिए। आत्मा के स्वभाव को जानने वाला जो 'भावश्रुत ज्ञान' है वह तो आत्मा का ही स्वरूप है, वह कहीं आत्मा से भिन्न नहीं है।

(३६) गौणरूप से व्यवहार की सिद्धि

यहाँ 'श्रुत से आत्मा पृथक् है'–ऐसा कहने में आचार्यदेव ने गौणरूप से व्यवहार को भी सिद्ध कर दिया है, और नवों तत्व भी इसमें से सिद्ध हो जाते हैं। इस जगत में आत्मा है और आत्मा के अतिरिक्त दूसरे अजीव पदार्थ भी हैं। आत्मा को समझने वाले भी हैं और न समझने वाले भी हैं, अर्थात् सच्चे देव-गुरु हैं और मिथ्या देव-गुरु भी हैं। सच्चे देव-गुरु कहने से उसमें संवर, निर्जरा और मोक्षतत्व आ जाते हैं और कुगुरु आदि में आस्रव-बंध तथा

पुण्य-पाप तत्व आ जाते हैं। श्रुत है, उस ओर अवस्था का लक्ष जाता है, विकल्प होता है। उस श्रुत का लक्ष छोड़कर आत्मा का लक्ष हो सकता है और विकार दूर करके पूर्णज्ञान दशा प्रगट हो सकती है,—यह सब जानना सो व्यवहार है।

(३७) स्वभाव का आश्रय करना ही प्रयोजन

परन्तु यहाँ उस व्यवहार के समस्त भंगभेदरहित शुद्ध परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा कराने का प्रयोजन होने से वह व्यवहार गौण है—हेयरूप है। और अखण्ड चैतन्यतत्त्व का आश्रय करना वह निश्चय है, वही उपादेयरूप है। मैं आत्मा परिपूर्ण चैतन्यरूप निरावलम्बी हूँ—ऐसी श्रद्धा करके उसका आश्रय करे और वाणी का आश्रय छोड़ दे तब निश्चय श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं और तभी श्रुत को निमित्तरूप कहा जाता है और उसके द्रव्यश्रुत के ज्ञान को व्यवहारज्ञान कहते हैं। अपने स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना वह परमार्थ है।

(३८) आत्मा की सच्ची लगन

प्रत्येक आत्मा का अपना स्वरूप ही ऐसा है। जो जीव अपने ऐसे स्वरूप को समझे उसी को कल्याण प्रगट होता है। और जिसे अपने आत्महित की सच्ची दरकार है एवं भव-भ्रमण का भय है, वैसे आत्मार्थी जीव को ही सत्समागम से आत्मस्वरूप समझ में आता है। अपने आत्मा की सच्ची लगन के बिना और सत्समागम के बिना आत्मस्वभाव

समझ में नहीं आसकता, और आत्मस्वभाव को समझे बिना जन्म-मरण दूर नहीं होसकता।

(३९) आत्मा की पूर्णता को स्वीकार किए बिना धर्म नहीं होता

यदि स्वयं अपने आत्मा की परिपूर्णता को न माने तो वह पर का आश्रय माने बिना नहीं रहेगा, और इससे वह जीव पर के साथ की एकत्वबुद्धि छोडकर अपने परिपूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होगा, और न उसे धर्म होगा। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है, श्रुत के आश्रित तेरा ज्ञान नहीं है; इसलिए श्रुत का आश्रय छोड़कर अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय कर, उसी के आश्रय से धर्म प्रगट होता है और मुक्ति होती है।

(४०) भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय है

इसप्रकार श्रुत और ज्ञान की भिन्नता को बतलाकर आचार्यदेव ने सर्व प्रथम ही आत्मज्ञान में असाधारण निमित्त-रूप श्रुत का अवलम्बन छुडाया है। श्रुत कहने से यहाँ मुख्यतया दिव्यध्वनि की बात है। उस श्रुत के अवलम्बन से ज्ञान नहीं होता, परन्तु ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान होता है-ऐसा भेदज्ञान प्रगट करके स्वभाव का आश्रय करना और पराश्रय को छोडना-वह मुक्ति का उपाय है।

[३]

卐 वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा १३ बुधवार 卐

शब्दों से ज्ञान का भिन्नत्व

सर्व प्रथम 'श्रुत है वह ज्ञान नहीं है'-ऐसा कहकर असाधारण वाणी का आश्रय छुड़ाया। अब कहते हैं कि-'शब्द हैं वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द अचेतन हैं, इसलिए शब्दों को और ज्ञान को व्यतिरेक है।' आचार्यदेव ने सामान्य भाषा के शब्दों से दिव्यध्वनि को पृथक् करके पहले उसकी बात की है, अब यहाँ सामान्य शब्दों की बात है।

(४१) शब्दों के कारण ज्ञान नहीं है—ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान स्वोन्मुख होता है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह स्वभाव पर के कारण नहीं है। शब्द हैं इसलिए आत्मा जानता है-ऐसा नहीं है। सन्मुख शब्दों का परिणमन है उसके कारण आत्मा को ज्ञान या आनन्द नहीं है। निन्दा या प्रशंसा के शब्दों के कारण ज्ञान नहीं होता; निन्दा के शब्दों के कारण आत्मा को दुःख नहीं है और प्रशंसा के शब्दों के कारण सुख नहीं है। 'आत्मा शुद्ध है, परिपूर्ण है'-ऐसे शब्दों में कहीं आत्मा विद्यमान नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वभाव में विद्यमान है। शब्द

तो अचेतन हैं, ज्ञान उनसे पृथक् है। इस प्रकार शब्दों से आत्मा की भिन्नता जानकर शब्दों का लक्ष छोड़कर 'मै चैतन्य द्रव्य हूँ, ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण हूँ'—इसप्रकार स्वभाव का निर्णय करके वर्तमान ज्ञानअवस्था स्वभावोन्मुख होने से द्रव्य-गुण-पर्याय एकतारूप परिणमित हों उसका नाम धर्म है। शब्दादि परपदार्थों के कारण ज्ञान नहीं है-ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान शब्दों का लक्ष छोडकर स्वभावोन्मुख होता है।

(४२) ज्ञान और ज्ञेय का स्वतंत्र परिणमन

ज्ञान अपने स्वभाव से होता है, शब्द सुनने के कारण ज्ञान नहीं होता। घड़ी मे आठ टकोरे पड़े इसलिए 'आठ बजे'-ऐसा ज्ञान हुआ-ऐसा अज्ञानी मानते हैं। वास्तव में तो ज्ञान की वैसी ही योग्यता से वह ज्ञात हुआ है-टकोरों के कारण नहीं। जड़ शब्द जड़ के कारण परिणमित होते हैं, और ज्ञान ज्ञान के कारण परिणमित होता है। ज्ञान और ज्ञेय का परिणमन एक ही समय वर्त रहा है, किन्तु दोनों स्वतंत्र हैं।

घडी में जिस समय नौ बजने में पॉच मिनिट कम हों, उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है, और कोई पूछे कि—कितने बजे हैं? तो वाणी में भी ऐसा ही आता है कि 'नौ में पॉच मिनिट कम हैं।' और उस पूछनेवाले जीव को भी ऐसा ही ज्ञान होता है। इसप्रकार सब का मेल बैठता होने पर भी प्रत्येक-प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूप से अपने स्वकाल में ही, पर की अपेक्षा के बिना परिणमित होरहा है। घड़ी

में नौ मे पाँच कम हों तब ज्ञान वैसा ही जानता है; लेकिन 'बारह बजे हैं'—ऐसा नहीं जानता। तथापि घडी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान के कारण 'नौ में पाँच मिनिट कम' ऐसी वाणी नहीं हुई है और उस वाणी के कारण दूसरे जीव को वैसा ज्ञान नहीं हुआ है।

(४३) रुचिरूपी तार के द्वारा यह बात झट से आत्मा में उतर जाती है।

अहो! यह ज्ञान की परिपूर्ण स्वतन्त्रता की बात है। जिसे चैतन्यस्वभाव की रुचि नहीं है उसे यह बात नहीं जमती। लेकिन जिसप्रकार बड़े और ऊँचे मकानों पर ताँबे का ऐसा तार लगाते हैं कि जिससे बिजली गिरे तो मकान को नुकसान पहुँचाये बिना तार द्वारा सीधी जमीन में उतर जाये। उसीप्रकार जिसने चैतन्य की रुचिरूप तार आत्मा के साथ जोड़ा है उसे यह चैतन्य की स्वाधीनता की बात रुचि द्वारा झट से आत्मा मे उतर जाती है। स्व-पर का भेदज्ञान होने से वस्तु की स्वतन्त्रता को किंचित् हानि पहुँचाये बिना उसका ज्ञान चैतन्य की ओर उन्मुख होजाता है।

(४४) शब्द स्वयं होते हैं, जीव नहीं करता

जड और चेतन प्रत्येक वस्तु की प्रतिसमय की स्वाधीनता है, उसे अज्ञानीजन नहीं मानते हैं, इससे 'हम भाषादि के कर्ता हैं और भाषा के कारण हमारा ज्ञान होता है'-ऐसा वे मानते हैं, इससे वे अपने को और पर को प्रति समय पराधीन मानकर स्वयं पराधीन होते हैं, वही

दुःख और अधर्म है। यहाँ शब्द और ज्ञान की अर्थात् जड़ और चेतन की भिन्नता बतलाकर आचार्यदेव स्वतंत्रता का भान कराते हैं। इस जगत में भाषावर्गणा के स्कन्ध हैं, वही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं, इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनंत स्कन्ध हैं लेकिन वे शब्दरूप परिणमित नहीं होते। जिसप्रकार जुआर के आटे से पूड़ियां नहीं बन सकती, उसी-प्रकार शरीर, कर्म, शब्द—इन सबकी भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ हैं, उन में से शरीरादि होते हैं। शब्द होने योग्य जो भाषा-वर्गणाएँ हैं वही शब्दरूप होती हैं, तब फिर जीव उसमें क्या करेगा? आकाश सर्वत्र फैला हुआ स्थिर और अरूपी है, उसमें चलने की या आवाज होने की शक्ति ही नहीं है; और परमाणुओं में हलन-चलन की तथा भाषादिरूप होने की शक्ति है, इससे वे स्वय उसरूप होते हैं, जीव उसमें कुछ नहीं कर सकता। जीव के ज्ञान के कारण शब्द नहीं होते और शब्दों के कारण जीव का ज्ञान नही होता। ज्ञान जीव की स्वाधीन शक्ति से ही होता है?

(४५) ज्ञेय, भाषा और ज्ञान—इन तीनों की स्वतंत्रता जानकर स्वभावोन्मुख हो उसे धर्म होता है।

घड़ी में आठ बजकर पांच मिनिट हुए हों तब ज्ञान वैसा ही जानता है, लेकिन बारह बजे हैं—ऐसा नहीं जानता। वहां घडी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है। घड़ी मे इतने बजे हैं इसलिए इतना ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है। और ज्ञान ने जैसा जाना वैसी ही भाषा आती है, तथा सामने वाला जीव भी

वैसा ही समझ जाता है,–ऐसा मेल होने पर भी ज्ञान ने जाना इसलिए भाषा नहीं हुई है और भाषा के कारण सामनेवाले जीव को वैसा ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान की अवस्था स्वावलंबी चैतन्य के आश्रय से ही कार्य करती है–ऐसा समझकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा प्रगट करना, वह सम्यक्श्रद्धा है। परन्तु घडी इत्यादि ज्ञेयो के कारण या शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है–ऐसा माने उस जीव ने आत्मा में ज्ञान और शांति नहीं माने हैं–इससे वह जीव अपने स्वभाव की ओर नहीं ढलता और न उसका मिथ्यात्व दूर होता है। प्रशंसा के शब्द जगत मे परिणमित हों उनसे आत्मा को सुख या ज्ञान नहीं है, तथापि उनसे ज्ञान या सुख माने तो उस जीव का ज्ञान पर में लगा हुआ है, वह ज्ञान अचेतन है–अधर्म है। शब्दों से और उस ओर के क्षणिक ज्ञान से पृथक् अपना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है—ऐसा अभिप्राय होने से, शब्दों को या अपूर्ण दशा को स्वीकार न करके वर्तमान अवस्था पूर्णस्वभावोन्मुख होती है। द्रव्य–गुण तो त्रिकाल पूर्ण हैं ही, और उनकी ओर उन्मुख होने वाली अवस्था भी परिपूर्ण को ही स्वीकार करती है, इससे वह अवस्था भी पूर्ण के आश्रय से पूरी ही होती है।

(४६) ज्ञानस्वभाव को जाने बिना ज्ञेय का स्वभाव नहीं जाना जा सकता।

जो जीव शब्दों का और उन्हें जाननेवाली ज्ञानअवस्था

का ही स्वीकार करे वह उनकी ओर ही देखता रहता है, लेकिन अपने स्वभाव को नहीं देखता। ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान जहाँ से आता है-ऐसे अपने स्वभाव को जो स्वीकार न करे उसने वास्तव मे ज्ञान का या ज्ञेय का भी यथार्थ स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि ज्ञान स्वतः होता है उसे न जानकर शब्दों के कारण ज्ञान माना है—अर्थात् ज्ञान को स्वतंत्र सत्‌रूप स्वीकार नहीं किया है, और शब्द ज्ञान से भिन्न है—अचेतन हैं, तथापि उन्हें ज्ञान का कारण माना है, उसने शब्दों को भी स्वीकार नहीं किया है। शब्दों का स्वभाव ज्ञान में ज्ञात होने का है, लेकिन ज्ञान का कारण होने का नहीं है, और ज्ञान का स्वभाव स्व—पर को अपने से जानने का है, पर में कुछ करने का उसका स्वभाव नहीं है-ऐसा समझे तो ज्ञान और ज्ञेय को यथार्थ जाना कहलाए। मेरी ज्ञानदशा अपने सामान्य ज्ञानस्वभाव के आश्रय से होती है और शब्द मेरे कारण से नहीं किन्तु परमाणु के कारण से होते हैं—इसप्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव को स्वीकार करके अपने को जानते हुए पर को भी यथार्थ जानता है।

(४७) ज्ञान निश्चय से स्व को जानता है और व्यवहार से पर को जानता है।

आत्मा निश्चय से तो अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अपने को ही जाननेवाला है, पर को जाननेवाला तो व्यवहार से है। पर को जाननेवाला व्यवहार से है—ऐसा कहा है; उससे यहाँ ऐसा नहीं समझना कि 'परद्रव्य

का ज्ञान आत्मा को होता ही नहीं। आत्मा का ज्ञान पर को जानता तो है ही; लेकिन परसन्मुख होकर पर को नहीं जानता किन्तु स्वभावसन्मुख रहने से परवस्तुएँ सहज ही ज्ञात होजाती हैं, वहाँ 'ज्ञान पर को जानता है'– ऐसा कहने से पर की अपेक्षा आती है इसलिए उसे व्यवहार कहा है। पर से भिन्न रहकर पर को जानता है इसलिए व्यवहार है और स्व मे एकतापूर्वक स्व को जानता है इसलिए स्व का ज्ञाता है–वह निश्चय है। इससे, जिसप्रकार स्व के ज्ञान बिना पर का ज्ञान नही होता उसीप्रकार निश्चय के बिना व्यवहार नही होता–यह बात भी इसमे आजाती है।

(४८) प्रतिसमय ज्ञान का नवीन कार्य

अहो! नयी नयी अपेक्षा से प्रतिदिन स्वभाव की बात आती है, उसे जानने मे ज्ञान की विशालता है। ज्ञान का स्वभाव जानने का है, उसकी प्रतिसमय नवीन नवीन अवस्थाएँ होती हैं, और यदि वे नवीन नवीन अवस्थाएँ नया नया कार्य न करे–नया नया ज्ञान न करें तो वे अवस्थाएँ ज्ञानस्वभाव के आश्रय से नहीं हुई हैं। यहाँ नवीन नवीन शब्दों को जानने की बात नहीं है परन्तु अन्तर में प्रतिसमय स्वभाव की ओर का ज्ञान बढ़ता जाये और नवीन नवीन निर्मल भावों का ज्ञान होता जाये–उसकी बात है। साधक जीव को स्वभाव के आश्रय से प्रतिसमय ज्ञान की निर्मलता बढ़ती जाती है और विशेष विशेष भावों का ज्ञान होता जाता है।

कोई ऐसा कहे कि 'यह तो जो कल जाना था वही का वही ज्ञान है; कल सुना था वही यह है।'—ऐसा मानने वाले का झुकाव शब्दों की ओर है। अपना सामान्यज्ञान प्रति समय बदलकर नवीन नवीन कार्य ही करता है–इसका उसे विश्वास नहीं है। शब्दों के अवलम्बन बिना ही ज्ञान होता है। कल जो जाना था उसमें तो कल की ज्ञानपर्याय ने कार्य किया था और जो वर्तमान में जानता है उसमें वर्तमान ज्ञानपर्याय कार्य कर रही है। इसप्रकार जो अपने ज्ञान के पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता उस जीव को–जो ज्ञानपर्याय प्रति समय स्वभावोन्मुख होने का नवीन पुरुषार्थ कर रही है–उसकी खबर नहीं है। साधक जीव को स्वभाव के आश्रय से प्रति समय ज्ञान की शुद्धता बढ़ती जाती है। प्रतिसमय बदलता हुआ ज्ञान का भाव है, और सामने भी निमित्तरूप से प्रत्येक समय की शब्दों की अवस्था बदल रही है। वहाँ अपने ज्ञान को स्वीकार करनेवाला स्वभावोन्मुख होता है, वह धर्मी है, और जो जीव शब्दों की ओर ढलता है उसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्या-दृष्टि है।

(४९) स्वभाव के अवलम्बन से प्रति समय धर्म

शब्दों से ज्ञान नहीं होता–ऐसा जिस ज्ञान ने एकबार निर्णय किया, फिर दूसरे समय में वह दूसरे समय का ज्ञान स्वयं स्वभावोन्मुख होकर स्वतंत्र निर्णय करता है। पहले समय का ज्ञान कहीं दूसरे समय कार्य नहीं करता। जो नवीन नवीन अवस्थाएँ

होती जाती हैं वह प्रत्येक अवस्था अपने त्रिकाली स्वभाव के अवलम्बन को स्वीकार करती है और शब्दादि के अवलम्बन को नहीं स्वीकारती; इससे वैसे जीव को प्रति समय नवीन आत्मधर्म होता है। पूर्व की पर्याय ने अपने स्वकाल में कार्य कर लिया, पश्चात् जो नवीन अवस्था होती है उसे पूर्व पर्याय के साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वर्तमान वर्तती पर्याय स्वयं उस समय त्रिकाली स्वभाव के साथ एकता करती है–वह धर्म है। इससे प्रत्येक समय का धर्म स्वतंत्र है। प्रतिसमय नवीन नवीन दशा मे नया नया धर्म (विशेष विशेष निर्मलता) होता है। जिसे अपने ज्ञान में शब्दादि ज्ञेयों की ही नवीनता भासित होती है, लेकिन उस समय अपने ज्ञान मे विशेष विशेष अवस्था होती जाती है उस ज्ञान का सामर्थ्य भासित नहीं होता, वह जीव अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव के साथ वर्तमान पर्याय की संधि नहीं करता, किन्तु ज्ञेयों के साथ ज्ञान की एकता करता है–मानता है वह अज्ञानी है, उसे प्रति समय अधर्म होता है।

'शब्द है वह ज्ञान नहीं है'–ऐसा कहने से निन्दा के या प्रशंसा के, ज्ञानी के या अज्ञानी के सभी शब्द उसमें आजाते हैं। आत्मा प्रति समय अपने ज्ञानरूप परिणमित होता है, और सम्मुख ज्ञेयरूप में भिन्न भिन्न शब्दादि परिणाम हैं। मेरा चैतन्यपरिणामरूप धर्म प्रति समय स्वभाव के आश्रय से होता है–ऐसी रुचि और विश्वास द्वारा त्रिकाली द्रव्य के साथ वर्तमान परिणाम की एकता होने से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र होता है, वह धर्म है।

(५०) आह्लाद कैसे प्रगट हो ?

श्री आचार्यदेव करुणा पूर्वक कहते हैं कि अरे हे जीव ! तू अपने स्वाधीन आत्मतत्व को भूलकर पर्याय पर्याय में पराजित हो रहा है। शब्दादि नवीन नवीन होते हैं, उनकी नवीनता से तुझे आह्लाद लगता है, परन्तु भाई ! तेरा ज्ञान तो उससे बिलकुल भिन्न है। पर में तेरा आह्लाद नहीं है। तेरे आत्मा के स्वभाव में से प्रति समय नवीन नवीन भाव आते हैं, उनका आह्लाद तुझे क्यों नहीं है ? हे भाई ! अपने ज्ञान में से तू पर की रुचि और ममत्व छोड़कर अपनी वर्तमान पर्याय में त्रिकाळी चैतन्यस्वभाव की रुचि तो कर ! अपनी पर्याय का अपने द्रव्य के साथ मेल तो कर ! यदि अपनी पर्याय को अपने द्रव्य के साथ अभेद करके उसका विश्वास करे तो अपने द्रव्य मे से आने वाले अतीन्द्रिय आह्लाद का अनुभव तुझे उस पर्याय में हो !

(५१) शब्दों का अवलंबन छोड़कर आत्मा का आश्रय कर !

हे भाई ! तू अंतर में विचार कर कि–जिस समय श्रुत के श्रवण का या निन्दा–प्रशंसादि अन्य शब्दों के श्रवण का काळ है, उस काल में उन शब्दों को जानने जितना ज्ञान ही क्या तेरा स्वरूप है ? या उसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ तुझ में है ? शब्द हैं वह ज्ञान नहीं है और शब्दों को ही जानने जितना तेरा स्वरूप नहीं है, परन्तु शब्दों का लक्ष छोड़कर अन्तरोन्मुख होने से त्रिकाल आत्मस्वभाव की रुचि

करके उसे जो ज्ञान जाने वह ज्ञानपरिणाम आत्मा है। आत्मा और उसकी ओर उन्मुख ज्ञानपरिणाम पृथक् नहीं हैं, किन्तु शब्द और ज्ञान तो भिन्न है। शब्दों की ओर एकाग्र होता हुआ ज्ञान भी परमार्थत. आत्मस्वभाव से भिन्न है। शब्द अचेतन है और ज्ञान चेतन है, इन दोनों का भिन्नत्व है, आत्मा शब्दों के कारण या उनके अवलम्बन से नहीं जानता। जिस ज्ञान मे शब्दादि का अवलम्बन है वह ज्ञान आत्म-स्वभाव को जानने का कार्य नहीं कर सकता अर्थात् वह मिथ्याज्ञान है। इस प्रकार जो जीव शब्द और ज्ञान की भिन्नता को समझता है वह शब्दादि के साथ एकत्वबुद्धि छोड़कर उनसे उदासीन होकर अपने स्वभाव की रुचि करता है। त्रिकाली चैतन्य की रुचि और आश्रय से जो ज्ञान परिणाम प्रगट हुए वह सम्यग्ज्ञान है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने धर्म कहा है।

(५२) जीव और अजीव का स्वतंत्र अस्तित्व और परिणमन

इस जगत मे अनादि से अजीव परमाणु है इसलिए जीव है–ऐसा नहीं है, और जीव है इसलिए अजीव है–ऐसा भी नहीं है। जीव और अजीव दोनों तत्व अपने अपने स्वतंत्र स्वभाव से अनादिकालीन है। जिस प्रकार जीव और अजीव द्रव्यों का अस्तित्व एक दूसरे के कारण नहीं है, उसी प्रकार उनकी पर्याये भी एक दूसरे के कारण नहीं होती। ज्ञान कहीं शब्दों को नहीं करता और न शब्दों के कारण ज्ञान होता है। इसप्रकार शब्दों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करना, वह अपूर्व सम्यक्त्व धर्म है।

(५३) वर्णन में क्रम है, भेदज्ञान करने में क्रम नहीं है

इस प्रकार शब्द से भेदज्ञान कराके अब, रूप से भेदज्ञान कराते हैं। वास्तव में तो जो जीव शब्द और ज्ञान का भेदज्ञान करे उसे रूपादि से भी भेदज्ञान होता ही है। अपने ज्ञानस्वभाव का शब्दों से भिन्नत्व जाने और रूपादि से भिन्नत्व न जाने-ऐसा होता ही नहीं। अस्तिरूप से जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को जाना है उसे शब्द–रूप–रस–राग-द्वेषादि सर्व लोकालोक से अपना भिन्नत्व ज्ञात हुआ है; लेकिन यहाँ मात्र वर्णन में क्रम पड़ता है। विशेष विशेष पहलुओं से समझाने से क्रम पड़ता है; इससे पहले शब्द से भिन्नत्व समझाकर अब रूप से भिन्नत्व का वर्णन करते हैं।

❀ रूप से ज्ञान का भिन्नत्व ❀

रूप है वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप अचेतन है, इसलिए रूप और ज्ञान पृथक् हैं। रूप आँख का विषय है। आँख के द्वारा ज्ञान जो कुछ जाने वह सब अचेतन है। भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न रूप का ज्ञान होता है, वहाँ रूप के अवलम्बन से ज्ञान का अस्तित्व नहीं है, परन्तु अपने त्रिकाली आत्मा के आधार से ज्ञानपर्याय का अस्तित्व है। प्रति समय नवीन नवीन ज्ञानपर्यायें अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव में से होती हैं, उस स्वभाव को न देखकर जो जीव रूप के अवलम्बन से ज्ञान मानते हैं उन्हें आत्मा की प्रतीति नहीं है।

(५४) मूर्ति या चित्र के कारण ज्ञान नहीं होता

बालक, घोड़ा, हाथी, सिंह इत्यादि जो रूप दिखलाई देते हैं उनमे ज्ञान नहीं है और जो बड़े बडे धार्मिक चित्र होते हैं उनमें भी ज्ञान नहीं है, वह तो पुद्‌गल के रूप-गुण की अवस्था है। रूप अचेतन है, उसमे किंचित् ज्ञान नहीं है और आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है। रूप के कारण आत्मा नहीं जानता। भगवान की मूर्ति भी रूप है, उसमें ज्ञान नही है। महावीर भगवान का चित्र या मूर्ति हो उसे जानते समय उसके कारण महावीर भगवान का ज्ञान नहीं हुआ है।

(५५) जैसे ज्ञेय होते हैं वैसा ही उन्हें ज्ञान जानता है, तथापि ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं है

प्रश्न.—यदि सामने वाले चित्र या मूर्ति के कारण ज्ञान न होता हो तो, जब सम्मुख महावीर भगवान की मूर्ति हो तब उनका ज्ञान होता है और सीमधर भगवान की मूर्ति हो तब उनका ज्ञान होता है—ऐसा क्यों ? और यदि सामने समयसार हो तो उसका ज्ञान होता है, तथा प्रवचनसार हो तो उसका ज्ञान होता है—ऐसा क्यों होता है ?

उत्तरः—ज्ञान का स्वभाव पदार्थ को यथावत् जानने का है। जो जैसा हो उसे वैसा ही जानने का ज्ञान का स्वभाव है, ज्ञानस्वभाव विपरीत नहीं जानता, इसलिए जैसा ज्ञेय हो वैसा ही ज्ञान मे ज्ञात होता है, परन्तु जानने की योग्यता

ज्ञान की अपनी ही है। सम्मुख वैसा ज्ञेय है इसलिए उसी प्रकार ज्ञान होता है- ऐसा नही है। ज्ञान ज्ञान के कारण होता है, और ज्ञेय उनके अपने कारण होते हैं। रूप के समय यदि उस रूप के कारण ज्ञान होता हो तो आत्मा ने उस समय क्या कार्य किया? क्या उस समय आत्मा चला गया है? जिसने रूप के कारण ज्ञान माना है उसने आत्मा का अस्तित्व ही नहीं माना है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है-ऐसी प्रतीति उसे नहीं हुई है, किन्तु रूप और ज्ञान की एकता मानी है वही अधर्म है।

(५६) मूर्ति आदि देखते समय भी अज्ञानी को अधर्म और ज्ञानी को धर्म-क्योंकि-

मैं अपने ज्ञान से ही जानता हूँ, रूप के कारण नहीं— इस प्रकार रूप से अपने भिन्नत्व का निर्णय करके धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय करते हैं और रूप का आश्रय छोड़ते हैं। स्वभाव के आश्रय से जो पर्याय प्रगट होती है वह धर्म है। भगवान की मूर्ति देखते समय भी अज्ञानी को अधर्म होता है क्योंकि उसने अपने ज्ञान को पराश्रित माना है, इससे अचेतन मूर्ति के साथ ज्ञान को एकमेक माना है-वह मान्यता ही अधर्म का मूल है। और धर्मी जीव पुत्रादि का रूप देखता हो उस समय भी उसे धर्म होता है। यह ध्यान रखना कि रूप को देखने का भाव तो राग है, उस राग को कहीं धर्म का कारण नहीं कहते हैं, परन्तु उसी समय धर्मी जीव के अभिप्राय में ज्ञानस्वभाव का

आश्रय है, इससे ज्ञानस्वभाव के आश्रय से उसे प्रति समय धर्म होता है–एक समय भी धर्म के बिना नहीं जाता। जितना राग है उतना दोष है।

रूप अचेतन है, मेरा आत्मा रूप से पृथक् है, रूप के कारण मुझे ज्ञान नहीं होता और रूप को जानने वाली पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ, मेरा आत्मस्वभाव ज्ञान से पूर्ण है–इस प्रकार स्वभाव की स्वीकृति करके (द्रव्यदृष्टि करके) ज्ञानी की पर्याय परिणमित होती है, इससे उसकी पर्याय प्रति समय द्रव्यस्वभाव में ढलती है, इसलिए रूप आदि को देखते समय भी उसे धर्म है, क्योंकि उस समय चैतन्य का आश्रय नहीं छूटता।

(५७) प्रत्येक साधक जीव को स्वभावदृष्टि की समानता

साधक जीवों को प्रति समय पर्याय की शुद्धता बढ़ती जाती है, लेकिन उनकी दृष्टि उन पर्यायों पर नहीं होती। प्रति समय होने वाली प्रत्येक अवस्था पूर्ण चैतन्यस्वभाव का ही स्वीकार करती है, प्रत्येक अवस्था पूर्ण स्वभाव के साथ ही एकता करती है। गणधर देव की अवस्था या छोटे से छोटे सम्यग्दृष्टि की अवस्था–यह दोनो अवस्थाएँ त्रिकाली स्वभाव में ही अभेद होती है, इससे इस अपेक्षा से वे दोनों समान हैं। अहो! यह स्वभावदृष्टि की अपूर्व बात है, जो यह समझले उसका कल्याण हो जाये।

(५८) स्वभावोन्मुख होकर आत्मा का निर्णय करने वाले मति-श्रुत ज्ञान की प्रत्यक्षता

और, आत्मस्वभावोन्मुख हुआ मति-श्रुत ज्ञान भी वास्तव में प्रत्यक्ष है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसकी अवस्था में पहले अल्प ज्ञान था और फिर अधिक ज्ञान हुआ; वह अधिक ज्ञान कहाँ से आया? त्रिकाल शक्ति में से ज्ञान प्रगट होता है। उस त्रिकाली ज्ञानशक्ति का निःसंदेह निर्णय-इन्द्रियों और राग के अवलम्बन बिना-सीधा अपने आत्मा से ही किया है, इसलिए वह निर्णय करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। यदि किसी पर की अपेक्षा से-पर के आश्रय से निर्णय किया हो तो वह निर्णय ही सच्चा नहीं है। स्वभाव का निर्णय पर के अवलम्बन से नहीं होता। मति-श्रुतज्ञान स्वभाव के आश्रय से स्वभाव का निर्णय करते हैं, इसलिए स्व को जानने में तो मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष हैं।

(५९) जीव का ज्ञानस्वभाव और रूप का ज्ञेयस्वभाव

अपने चेतन स्वभाव से आत्मा का अस्तित्व है, और उस स्वभाव के कारण ज्ञान होता है। शरीर के रूप के कारण आत्मा का अस्तित्व नहीं है। अचेतन पदार्थों में भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती रहती हैं और वे ज्ञान का ज्ञेय हों-ऐसी उनमें शक्ति है, परन्तु ज्ञान का कारण होने की शक्ति उनमें नहीं है। ज्ञान की अवस्था अपने ज्ञानस्वभाव के बदलने से-परिणामित होने से होती है। स्त्री, शरीर, लक्ष्मी और जिनप्रतिमा आदि अचेतन हैं, उनके कारण मेरा ज्ञान या सुख

नहीं है। अज्ञानी जीव परवस्तु के कारण ज्ञान या सुख मानता है, वह उसका भ्रम है। ज्ञानी जानता है कि मेरा ज्ञान और सुख मेरे अपने कारण है और ज्ञेय पदार्थ उनके अपने कारण हैं।

(६०) रूप और ज्ञान के भेदविज्ञान से धर्म का अपूर्व प्रारम्भ

जो जीव रूपादि पर वस्तुओं के कारण अपना ज्ञान मानते हैं, अथवा उन रूपादि को जानने जितना ही अपने ज्ञान को मानते हैं उन जीवों को परवस्तु की रुचि दूर नहीं होती और उसमें सुख की मान्यता नहीं मिटती; इससे उन्हें कभी सच्चा वैराग्य या त्याग नहीं होता। मेरा ज्ञान रूपादि से भिन्न है, रूप को देखते समय उतने ही ज्ञान जितना मैं नहीं हूँ और रूप के आधार से मेरा ज्ञान नहीं है, मेरा ज्ञान तो त्रिकालस्वभाव के आधार से है—इसप्रकार यदि स्वभाव की रुचि करे तो परावलम्बन दूर होकर स्वाधीनता हो। रूपादि से ज्ञान भिन्न है—ऐसा जो निर्णय करे उसे कभी रूपादि विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती, इससे ज्ञान-स्वभाव का सच्चा निर्णय करते ही अनन्त राग-द्वेष तो दूर हो ही गया, और धर्म का अपूर्व प्रारम्भ भी हो गया।

(६१) आत्मा के अवलम्बन से धर्म और पर के अवलम्बन से अधर्म

ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है और रूप अचेतन है। रूप में ज्ञान नहीं है। शरीर के रूप के साथ ज्ञान का

सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान को रूप का अवलम्बन नहीं है, किन्तु उसे तो आत्मा का ही अवलम्बन है। इस प्रकार आत्म-स्वभाव का अवलम्बन करके जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप स्वाव-लम्बी दशा प्रगट हो वह धर्म है। देव–गुरु–शास्त्र के आश्रय से जो सम्यक्त्व माने, शास्त्र के आश्रय से ज्ञान माने और व्रतादि शुभराग के आश्रय से चारित्र माने–वह जीव अपने स्वभाव को नहीं मानता, लेकिन परावलम्बन को मानता है; वह जीव परावलम्बन छोड़कर स्वभाव का अवलम्बन नहीं करता, अर्थात् स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान या उसमें स्थिरता नहीं करता और उसे वीतरागता या केवल-ज्ञान नहीं होता, धर्म का अंश भी नहीं होता। किसी अन्य वस्तु की उपस्थिति से जो अपने को सुखी मानता है वह अपने स्वभाव में सुख का स्वीकार नहीं करता, इससे उसे कभी स्वभाव का सच्चा सुख प्रगट नहीं होता। धर्मात्मा जानता है कि त्रिकाली चैतन्यसत्ता के आश्रित मेरा सुख है, उसमे किसी अन्य के अवलम्बन की आवश्यक्ता नहीं है–इससे वही अपने आत्मा की चैतन्यसत्ता के आधार से सच्चे सुख का अनुभव करता है।

(६२) राग-द्वेष के समय भी धर्मी को धर्म होता है

धर्मी जीव को राग-द्वेष हो उस समय भी भान होता है कि यह राग-द्वेष की उत्पत्ति चैतन्य के आश्रय से नहीं है, किन्तु पर के आश्रय से है। चैतन्य के आश्रय मे सम्पूर्ण-तया नहीं रहा जा सका इसलिए राग-द्वेष हुआ है। उस समय

भी मेरा ज्ञान उस राग के अवलम्बन से नहीं जानता। मैं स्वभाव का अवलम्बन रखकर राग का ज्ञाता हूँ, परन्तु राग का अवलम्बन करके उसका ज्ञाता नहीं हूँ। आदि-अंत रहित ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करने से ज्ञान और सुख है-ऐसी सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होने पर भी धर्मी को जो राग-द्वेष होजाता है वह चारित्रदोष है। धर्मी को उस दोष का अवलम्बन नहीं है, किन्तु दोषरहित चैतन्यस्वभाव का ही अवलम्बन है, इससे उसे प्रतिक्षण शुद्धता होती जाती है और दोष दूर होता जाता है। इसप्रकार राग-द्वेष के समय भी स्वभाव के अवलम्बन से धर्म होता है।

(६३) अधर्म और धर्म कैसे होते हैं ?

अज्ञानी जीव त्रिकाली चैतन्यतत्व की सत्ता को भूलकर प्रतिक्षण पराधीनता से दब रहा है—वह अधर्म है। यदि त्रिकाली आत्मद्रव्य को स्वतंत्र स्वीकार करे तो उस त्रिकाली के वर्तमान को भी स्वतंत्र स्वीकार करे, इससे पर्याय में भी पर का अवलम्बन न माने और स्वद्रव्य का आश्रय करके शुद्धता प्रगट करे। शरीरादि से आत्मा पृथक् है—ऐसा माने तो, शरीर की दशा उसके अपने कारण से है और अपनी दशा अपने कारण है—ऐसा स्वीकार करे, इससे स्वाधीन श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होकर स्थिरता द्वारा वीतरागता और केवलज्ञान हो और भवभ्रमण दूर होजाये। इसमे धर्म के प्रारम्भ से लेकर पूर्णता तक की सारी बात आगई; और अधर्म कैसे होता है—वह भी आगया।

(६४) स्व-पर के भेदविज्ञान से धर्म और एकत्वबुद्धि से महा अधर्म

आत्मा और परवस्तु भिन्न हैं, इससे उन भिन्न वस्तुओं के कारण आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं-ऐसा यथार्थ निर्णय करने वाला जीव परावलम्बन छोडकर स्वाश्रय करता है। फिर पर्याय पर्याय में स्वावलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता प्रगट करता रहता है और परावलम्बन तोड़ता जाता है-ऐसी आत्मदशा का नाम धर्म है। जो जीव स्वावलम्बन नहीं करता और परावलम्बन नहीं छोडता उसने वास्तव में स्व और पर को पृथक् नहीं जाना है, किन्तु एक माना है-वह महा अधर्म है।

(६५) समझने के लिए उत्साह

यदि आत्मा रुचिपूर्वक समझना चाहे तो यह बात बिलकुल सरल है। आत्मा की समझ में आने योग्य है। आत्मा स्वयं जैसा है उसकी यह बात है। आत्मा की बात किसको समझ मे नहीं आती? सभी आत्माओं की समझ में आ सकती है। आत्मा का स्वभाव ही ज्ञाता है, इससे जो आत्मा हो उसमें सब कुछ समझने की शक्ति है। जड़ में ज्ञान नहीं है इससे जड़ की समझ में कुछ नहीं आता। इस बात को सुनने के लिए कहीं जड नहीं बैठे हैं, जड को समझने के लिए यह बात नहीं हो रही है, किन्तु जड़ से भिन्न ज्ञानतत्व है उसे समझने के लिए यह बात है।

(६६) विश्व के जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ के स्वभाव की स्वतंत्रता और परिपूर्णता

जिस प्रकार मैं आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव से परिपूर्ण हूँ, इससे मेरे चैतन्य को पर की अपेक्षा नहीं है; उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य अपने रूप-स्वभाव से परिपूर्ण है, उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं है। रूप अपने रूपस्वभाव से परिपूर्ण है और मेरे चैतन्यत्व का उसमे अभाव है। मैं अपने ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण हूँ और रूप से शून्य हूँ। परमाणु-पदार्थ अपने रूपादि स्वभाव से परिपूर्ण है; यदि ज्ञान उसे बदलना चाहे तो नहीं बदल सकता। उसके त्रिकाली स्वभाव का वर्तमान उसके अपने आधार से स्वतंत्र है, उसका वह वर्तमान अंश दूसरे का अवलम्बन नहीं करता। काली अवस्था मे से सफेद अवस्था होने के लिए वह पुद्गल द्रव्य अपनी परिपूर्ण शक्ति वाला है, उसे बदलने के लिए ज्ञान की आवश्यक्ता नहीं है। आत्मा उपस्थित हो तभी वह बदले, नहीं तो नहीं—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। एक परमाणु को काली अवस्था में से सफेद अवस्थारूप अनंत आत्मा एकत्रित होकर भी नहीं बदल सकते। उसकी अवस्था उसके स्वभाव से क्रमबद्ध होती रहती है, क्योंकि वह अपने रूपादि स्वभाव से परिपूर्ण है, वह अपने परिपूर्ण सामर्थ्य को धारण करने वाला है, और आत्मा के ज्ञान का उसमें बिलकुल अभाव है। पुद्गल मे रूपादि स्वभावसामर्थ्य से पूर्णता है, परन्तु उसके अवलम्बन से आत्मा को श्रद्धा—ज्ञानादि हो ऐसा कोई सामर्थ्य उसमें नहीं है। पुद्गल में ऐसा स्वभाव ही नहीं

है कि वह (पुद्गल) आत्मा के ज्ञान का या आनंद का कारण हो। और जीव अपने चैतन्यसामर्थ्य से परिपूर्ण तथा अचेतनत्व से रहित है। जीव का ऐसा स्वभाव नहीं है कि उसे अपने ज्ञान और आनंद के लिए पर का अवलम्बन लेना पड़े! अहो, सारा जगत स्वतंत्र और परिपूर्ण है; जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से परिपूर्ण हैं। इसमें तो वीतरागता और सर्वज्ञता ही आजाती है। ऐसे स्वतंत्र वस्तुस्वभाव को न मानकर—'आत्मा के कारण पर की क्रिया होती है और परवस्तु के अवलम्बन से आत्मा को श्रद्धा–ज्ञान–आनन्द होते हैं'—ऐसी मान्यता वह मिथ्यात्व है, भ्रम है, वही संसार है, वही अधर्म है, और वही महापाप है।

(६७) आत्मा का सम्यग्ज्ञान

आत्मा सत् पदार्थ है। 'है' अर्थात् वह भूतकाल में नहीं हुआ है, 'है' अर्थात् भविष्य में वह नाश को प्राप्त नहीं होता; और **'है'** अर्थात् वर्तमान में विद्यमान है। आत्मा संयोग रहित अनादि-अनन्त वस्तु है, उस वस्तु की ज्ञान के साथ एकता है और रूपादि से पृथक्त्व है। आत्मा चैतन्य-रूप से भरा हुआ और पर के रूप से शून्य है; पर से भिन्नत्व कहते ही स्वयं से पूर्णता है-ऐसा आजाता है। यदि वस्तु स्वयं अपूर्ण हो तो उसे पर का संबंध हो। पर के सम्बंध से यदि आत्मा को लक्ष में लिया जाये तो उसका यथार्थ पूर्ण स्वभाव ज्ञात नहीं होता। पर के सम्बन्ध बिना

ही आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है, वह वर्तमान भी स्वतंत्र है; इससे ज्ञान को पर का आश्रय नहीं है किन्तु स्वभाव का ही आश्रय है। सम्यग्ज्ञान के लिए पर की ओर नहीं ताकना पड़ता, किन्तु अपने स्वभाव को जानने से सम्यग्ज्ञान होता है।

(६८) आत्मा को पर से भिन्न मानने वाला जीव कैसा होता है?

जो ज्ञान को पर का आश्रय माने उसने आत्मा को पर से भिन्न नहीं माना है। पर से भिन्नत्व की श्रद्धा करने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता के कारण परोन्मुखता होती है; लेकिन उस समय भी वह पर से और उस ओर के झुकाव से पृथक् रहकर स्वभाव के ही आश्रय से परिणमित होता है। परोन्मुखता होती है उसे जानता है, परन्तु उसका आश्रय नहीं मानता-यह साधकदशा है।

(६९) धर्म कैसे और कहाँ होता है?

धर्म अर्थात् आत्मा की पवित्रदशा। वह पवित्रदशा कैसे होती है? आत्मा की उस दशा के लिए अन्य-शरीरादि पदार्थ तो काम नहीं आते और पूर्व की अवस्था भी काम नहीं आती, किन्तु वर्तमान में त्रिकाली स्वभाव का पूर्ण स्वरूप से अस्तित्व है उसका स्वीकार करके उसकी पूर्णता के अवलम्बन से पवित्र दशा प्रगट होती है और राग-द्वेष दुःख दूर होजाते हैं। ऐसी आत्मा की दशा वह धर्म है। इसके अतिरिक्त शरीर की किसी दशा में, या राग में धर्म नहीं है।

(७०) स्व–पर का भिन्नत्व

'मै आत्मा हूँ'–ऐसा कहते ही–आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं लेकिन वह मै नहीं हूँ अर्थात् मै पर से पृथक् हूँ–ऐसा उसमें आ ही जाता है। यदि त्रिकाली वस्तुओं का अस्तित्व पृथक् पृथक् ही है, तो उन त्रिकाली की वर्तमान अवस्थाएँ भी पृथक् पृथक् ही हैं, किसी को एक दूसरे की आवश्यक्ता नहीं है। इस प्रकार जो स्वीकार नहीं करता उसने वस्तुओं को ही भिन्न भिन्न नहीं माना है।

(७१) 'मैं पर का करता हूँ'–इस मान्यता में स्व–पर की हत्या होती है

'मै वाह्य का कुछ करता हूँ'–इस मान्यता में स्व और पर—दोनों वस्तुओं के स्वभाव की हत्या होती है। 'मैं पर का करूँ' उसका अर्थ यह हुआ कि पर वस्तुएं तो स्वतंत्र सत् पदार्थ ही न हों। और 'मैं पर का करूँ' यानी मेरा अस्तित्व पर में ही हो। ऐसी मान्यता वाला जीव कभी परावलम्बन से नहीं छूटता और कभी पर से भिन्न आत्मस्वभाव की रुचि–श्रद्धा नहीं करता। आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू अपने ज्ञानस्वरूप को पर से बिलकुल भिन्न जान और पर में अहंकार को छोड़। शरीर बिगड़ जाये तो उसे सुधारने की कल्पना करता है, परन्तु जीव की कल्पना शरीर में नहीं चलती–अर्थात् वह कल्पना व्यर्थ जाती है। इसलिए शरीर और उस ओर की होने वाली कल्पनाएँ—दोनों से तेरा स्वरूप पृथक् है, उनके आश्रय

से तेरा ज्ञान नहीं जानता, लेकिन ज्ञान से परिपूर्ण अपने अखण्ड चैतन्यस्वभाव का आश्रय करके ज्ञान जानता है,– ऐसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान करना–वह अपूर्व आत्म धर्म है।

(७२) पर से भिन्न आत्मा को न जाने तवतक सामायिकादि किसी भी प्रकार का धर्म नहीं होत

स्वयं अपने आत्मा को यथावत् न जाने और आत्म स्वभाव की महिमा न आये, तवतक समभावरूप सामायिक कहाँ से होगी? मिथ्यात्वादि पापों से विमुख होनेरू प्रतिक्रमण भी किसका होगा? और पर भावों के त्यागरू प्रत्याख्यान भी कैसे होगा? अपने चैतन्यस्वभाव को न जानकर पर के साथ आत्मा की एकता माने वह जीव कर्म पर के सम्बध से पृथक् होकर स्वभाव मे नहीं आता, अर्थात उसे मुक्ति नहीं होती, और न किसी प्रकार का धर्म ही उसे होता है।

(७३) ज्ञान और ज्ञेय का स्वतंत्र परिणमन

ज्ञान का स्वभाव पदार्थों को यथावत् जानने का है। सम्मुख जैसा पदार्थ हो वैसा ही ज्ञान जानता है, लेकिन वहाँ सामने वाले पदार्थ के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान अपनी शक्ति से ही अपनी योग्यतानुसार जानता है। ज्ञान का स्वभाव विपरीत नहीं जानता, किन्तु यथावत् जानने का ही उसका स्वभाव है।

देखो, इस समय घडी में 'नौ में दस मिनिट कम' हुए हैं; ज्ञान भी वैसा ही जानता है; वाणी परिणमित हो तो वह भी 'नौ में दस मिनिट कम हुए'-ऐसी परिणमित होती है, और उस वाणी को सुनकर सामने वाले जीव को भी वैसा ही ज्ञान होता है। वहाँ घडी का परिणमन स्वतंत्र है, वाणी स्वतंत्र है और सामने वाले जीव का ज्ञान भी स्वतंत्र है। सारा विश्व स्वतंत्रतया परिवर्तित हो रहा है। अनेक पदार्थों की क्रिया एक काल में होने पर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है।

(७४) अनेक पदार्थों के अस्तित्व का एक काल होने पर भी एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं है

भिन्न-भिन्न पदार्थों की क्रियाएँ एक ही काल में होती हैं, वहाँ वस्तु के पृथक् स्वभाव को न देखने वाला अज्ञानी जीव, एक दूसरे पदार्थों को कर्ताकर्मपने का मेल मान लेता है। लेकिन पृथक् पदार्थों का मेल कैसा? एक काल में दो पदार्थों का कार्य हो तो उससे क्या? इस जगत में ऐसा कौन-सा काल है कि जिस काल में छहों द्रव्यों का कार्य न होता हो? आत्मा और परमाणु अनादिकाल से एक स्थान में रह रहे हैं, एक ही काल मे दोनों का अस्तित्व है। दो पदार्थों के अस्तित्व का एक काल हो तो उससे कहीं उन पदार्थों की एकता नहीं होजाती। प्रत्येक पदार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व है और अपने अपने स्वकाल में ही प्रत्येक पदार्थ परिणमित होता है। त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करके सत्

की स्वतन्त्रता अज्ञानी को भासित नहीं होती और वह स्व-पर का सबंध मानता है-एकत्व मानता है, इससे पर से भिन्न स्वभाव का उसे आश्रय नहीं होता और मुक्ति या मुक्ति का उपाय उसे नहीं मिलता। जो जीव यथार्थतया स्व पर के भिन्नत्व को जानता है वह जीव पराश्रय छोडकर स्वाश्रय करता है और स्वाश्रय से केवलज्ञान होने से वह समस्त पदार्थों को एक ही साथ प्रत्यक्ष जानता है; परन्तु उसके राग-द्वेष नहीं होते। पहले जब राग द्वेष मे रुकता था तब ज्ञान पूर्ण नहीं जानता था, अब स्वभाव में लीन हुआ ज्ञान पूर्ण जानता है और राग-द्वेष में नहीं रुकता, तथा उस ज्ञान से किंचित् दुःख नहीं है।

(७५) स्वतंत्र वस्तुस्वभाव

ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव से पूर्ण है और रूप उसके रूपस्वभाव से। दूसरे अनन्त पदार्थ उन्हे अन्यथा बदलना चाहें तो भी नहीं बदल सकते, क्योंकि वस्तुस्वभाव स्वतः ही पूर्ण है, उस पर दूसरों की सत्ता नहीं चल सकती। रूप है वह परमाणु का स्वभाव है, उस रूप को बदलकर उसे रस आदि रूप करने की किसी की शक्ति नहीं है। जो जीव पर को बदलना मानता है, वह जीव कहीं पर को नहीं बदल सकता, लेकिन विपरीत अभिप्राय से पराश्रय से स्वय मात्र दुःखी होता है।

(७६) वर्तमान अंश को स्वतंत्र जानने से धर्म होता है

आत्मा अपने ज्ञान-सुख इत्यादि अनंत स्वभाव से पूर्ण

है, उसका वर्तमान अंश भी स्वतंत्र है। वह अंश त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन बिना कहीं अधर से नहीं होता। इससे वास्तव में जिसने वर्तमान अंश को स्वतंत्र माना है उसकी दृष्टि अंशी पर जाती है, त्रिकाली द्रव्य की श्रद्धा हुई कि मेरी श्रद्धा-ज्ञानादि सर्व अवस्थाएँ इस द्रव्य के आधार से हैं-। वहाँ सम्यग्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानरूप धर्म हुआ।

(७७) प्रत्येक समय की ज्ञान की योग्यता

प्रश्नः—बधिर मनुष्य दूर बैठा हो तो वह सुन नहीं सकता, और निकट बैठा हो तो सुन सकता है, इसलिए वाणी के अवलम्बन से ही ज्ञान हुआ न?

उत्तरः—ऐसा नहीं है; ज्ञान की योग्यतानुसार ही ज्ञान होता है। दूर या निकट होने से क्या? ज्ञान तो कहीं वाणी में चला नहीं जाता, वह तो अपने समय में रहकर ही काम करता है। दूर है उस समय का ज्ञान का समय (ज्ञान की पर्याय) भिन्न है, और निकट है उस समय का ज्ञान का समय भिन्न है,-दोनों समय का ज्ञान का समय अपने अपने समय में पृथक् पृथक् कार्य करता है। दूर होने के समय ज्ञान की योग्यता वैसी वाणी को जानने की नहीं थी लेकिन दूसरा कुछ जानने की थी, और निकट होने के समय वैसा जानने की योग्यता थी। प्रत्येक समय की ज्ञान की स्वतंत्र योग्यता के अनुसार ही ज्ञान होता है। त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा के बिना प्रत्येक समय की स्वतंत्रता की श्रद्धा नहीं होती। ज्ञान की भिन्न भिन्न योग्यता के अनु-

सार ज्ञेयों का संयोग भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता है; वहाँ परसयोग की उपस्थिति के कारण ज्ञान होता है-ऐसा जो मानता है वह जीव अपने स्वतंत्र ज्ञानसामर्थ्य की हत्या करता है। उसी प्रकार पदार्थों की अवस्था उन उन पदार्थों की योग्यतानुसार होती है, उस समय अपनी उपस्थिति होती है इससे-'मेरे कारण यह कार्य हुआ'-ऐसा मानने वाला भी अज्ञानी है।

(७८) जड़ की अवस्था मैं करता हूँ-ऐसा मानने वाले ने वस्तु को ही सत् नहीं माना है।

जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य स्वतन्त्र है, उसका कोई कर्ता नहीं है, वैसे ही उसकी पर्यायें भी स्वतन्त्र हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। कोई कहे कि 'परमाणु द्रव्य तो स्वतंत्र है, वह किसी ने बनाया नहीं है, परन्तु उसकी अवस्था मेरे कारण होती है, जैसी अवस्था मै करूँ वैसी होती है'-तो ऐसा मानने वाले जीव ने परमाणु द्रव्य को ही स्वतन्त्र नहीं माना है। क्योंकि, द्रव्य क्या अपनी अवस्थारहित होता है कि दूसरा उसकी अवस्था करे? पर वस्तु के द्रव्य-गुणों को तो मैं नहीं कर सकता, लेकिन पर्याय को कर सकता हूँ-ऐसा जिसने माना है उसने द्रव्य-गुणों को पर्यायरहित ही माना है, अर्थात् वास्तव मे द्रव्य-गुण को ही नहीं माना है। यदि द्रव्य-गुण को स्वतन्त्र जाने तो उनकी पर्यायों को भी उनके आधार से स्वतन्त्र ही मानेगा। अपने स्वभाव के आधार से मेरा ज्ञान प्रति समय होता है-ऐसा स्वीकार करने वाला ज्ञान

त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेद होता है। ज्ञेय पदार्थों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण मेरे ज्ञान की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ नहीं होती; लेकिन त्रिकाल ज्ञानस्वभाव के आधार से ही मेरी अवस्थाएँ होती हैं-इस प्रकार पर के अवलम्बन को छोड़कर अपने स्वभाव के अवलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता करने से धर्म होता है और ऐसे अवलम्बन में ही सम्पूर्ण सत् की-आत्मा की स्वीकृति है।

इस प्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव को रूप से स्पष्टतया भिन्न बतलाया। अब वर्ण से भिन्नत्व का वर्णन करेंगे।
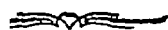
卐 वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा १४ गुरुवार 卐

(७९) सुख कहाँ है और कैसे होता है?

जो आत्मा का सच्चा सुख चाहता है उसे क्या करना चाहिए? कौन-सी क्रिया करने से सच्चा सुख होता है? यह बात यहाँ चल रही है। सुख प्राप्त करने के जिज्ञासु जीव को पहले यह निर्णय करना चाहिए कि सुख कहाँ है? आत्मा के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे पदार्थों में आत्मा का सुख नहीं है। शरीरादि सब पर पदार्थ इस आत्मा से शून्य हैं और आत्मा में उनका अभाव है, तब फिर जहाँ इस आत्मा का अस्तित्व नहीं है वहाँ से आत्मा का सुख नहीं आता। जहाँ सुख हो वहाँ से वह प्रगट होता है और जहाँ उसका अभाव है वहाँ से नहीं आता। आत्मा अपने ज्ञान और सुखस्वभाव से परिपूर्ण है, पुण्य-पाप अथवा अन्य पर वस्तुओं से शून्य है, इससे उनमें ज्ञान या सुख नहीं है।

आत्मा पर से शून्य है—ऐसा कहने से कहीं आत्मा का सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि वह अपने स्वभाव से परिपूर्ण है। कोई वस्तु स्वयं अपने स्वभाव से शून्य नहीं होती, और कभी एक वस्तु में दूसरी का प्रवेश नहीं होता।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से पूर्ण है। आत्मा स्वतः ज्ञाता-द्रष्टा-श्रद्धा-सुख-चारित्र-वीर्य इत्यादि अनंत शक्तियों से भरपूर है,-ऐसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा और स्थिरता करने से आत्मा स्वयं ही सुखरूप परिणमित होता है, आत्मा में से ही सुख प्रवाहित होता है। आत्मा में ही परिपूर्ण सुख है, पर में कहीं भी सुख नहीं है, और न पर पदार्थ सुख के साधन ही हैं-ऐसा निर्णय करे तो पर पदार्थों में से सुखबुद्धि दूर हो और जिसमें से सुख झरता है ऐसे आत्म-द्रव्य का लक्ष हो, तथा उसके आश्रय से सुख का अनुभव हो। लेकिन जिसे शरीर-पैसा-स्त्री आदि पदार्थों में ही सुख का आभास होता हो वह जीव वहाँ से हटकर आत्मस्वभावो-न्मुख होने का प्रयत्न नहीं करता, और न उसे सच्चा सुख प्रगट होता है।

(८०) स्वभाव की एकता के आश्रय से सुख है और संयोग की अनेकता के आश्रय से दुःख है।

आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड एक असंयोगी वस्तु है, और बाह्य के संयोग तो अनेक प्रकार के हैं। उसमें स्वभाव की एकता के आश्रय से रागादि दुःख दूर होते हैं और संयोगों की अनेकता के आश्रय से रागादि दुःख होते हैं। इसलिए जिन्हे सुख की आवश्यक्ता हो उन्हें अपने स्वभाव का ही आश्रय करना योग्य है। अनेक प्रकार के संयोगों का आश्रय करने से दृष्टि में अनेकता होती है और उससे आकुलता ही उत्पन्न होती है। बाह्य में अनेक प्रकार के

संयोग होने पर भी उनसे भिन्न अपने एक स्वभाव का आश्रय करे तो अनन्त गुणो से भरपूर अपने स्वभाव के आश्रय से सुख होता है। आत्मद्रव्य के लक्ष से एकाग्रता करने से पर के साथ की एकत्वबुद्धि दूर होजाती है, और अज्ञान दूर होने से सम्यग्ज्ञान होता है, वही धर्म है और वही सुख है।

शरीर–मन–वाणी–स्त्री–पुत्र–लक्ष्मी या देव–शास्त्र–गुरु इत्यादि संयोग अनेक प्रकार के हैं, वे सदैव एक समान नहीं रहते, इसलिए उनका आश्रय करने से ज्ञान स्थिर नहीं होता, इससे उनके आश्रय से आत्मा को सुख नहीं होता। आत्मा का असंयोगी चैतन्य स्वभाव है वह नित्य एकरूप रहता है, उसकी रुचि और विश्वास करके उसका आश्रय करे तो उसमें ज्ञान स्थिर होकर आनंद प्रगट होता है।

आत्मा अनादि–अनंत एकरूप स्थायी रहने वाला द्रव्य है, और प्रतिक्षण उसकी नवीन नवीन अवस्थाएँ होती रहती हैं। वह वर्तमान अवस्था यदि संयोग की रुचि करे तो अनेक प्रकार के संयोगों के आश्रय से अनेक प्रकार का विकार ही होता है, और यदि वर्तमान अवस्था त्रिकाळी एकरूप द्रव्य का आश्रय करे तो द्रव्यपर्याय की एकता होती है और शुद्धता ही प्रगट होती है।

स्वभाव एक है और पर पदार्थ अनेक हैं। वर्तमान श्रद्धा मे–रुचि मे अनेक पर पदार्थों का आश्रय करे तो एकरूप स्वभाव का अनादर होता है, और विकार का आदर होता

है। अनेक प्रकार के संयोगों के कारण वैसा ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान की ही वैसी योग्यता होने से ज्ञान उन्हें जानता है। लेकिन अज्ञानी जीव अपने एकरूप स्वभाव को न जानते होने से, अनेक ज्ञेयों के बदलने से उनके कारण मेरा ज्ञान बदला है-ऐसा मानते हैं, इससे वे स्व को भूलकर पर को जानने मे और उसमे हर्षशोक मानने में ही रुक जाते हैं। ज्ञानस्वभाव के आश्रय से एकसाथ सभी पदार्थों को जानने का अपना स्वभाव है, उसकी जिन्हें खबर नहीं है वे पर पदार्थों से ज्ञान मानते हैं, ज्ञेयों के कारण ज्ञान मानते होने से उन्हें अनेक पर को जानने का हर्ष होता है, अनेक पदार्थों को जान लूं तो सुख हो-ऐसा वे मानते हैं, इससे वे जीव ज्ञेयों के साथ एकत्व-बुद्धि करते हैं, ज्ञेयों का आश्रय छोड़कर ज्ञानस्वभाव का आश्रय वे नहीं करते। एकरूप ज्ञान स्वभाव के आश्रय बिना कभी सच्चा सुख नहीं होता। संयोगो के आश्रय से तो मिथ्यात्व, अज्ञान और पुण्य-पाप रूप विकारी क्रिया होती है वह अधर्म है-दुःख है।

(८१) आत्मा का मूल स्वरूप क्या है? और वह कैसे जाना जाये?

जिस प्रकार पानी का मूल स्वभाव ठंडा है, किन्तु अपने से विरुद्ध ऐसी अग्नि का आश्रय करे तो वह उष्ण दशारूप होना है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव शीतल-आनंदमय है, किन्तु यदि उस स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर संयोग

के आश्रय से परिणमन करे तो अवस्था में पुण्य-पापादि विकार होते हैं। जिस प्रकार उष्णता पानी का यथार्थ स्वरूप नहीं है उसी प्रकार विकारी भाव भी आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। उष्णता के समय भी पानी का शीतल स्वभाव है, वह स्वभाव पानी में हाथ डुबोने से ज्ञात नहीं होता, आँख से दिखाई नहीं देता, कान-नाक अथवा जीभ से अनुभव में नहीं आता परन्तु ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है। उसी प्रकार विकार के समय आत्मा का त्रिकाली शुद्ध स्वभाव है, वह किसी बाह्य क्रिया से या राग से ज्ञात नहीं होता परन्तु अंतरस्वभावोन्मुख होने से, ज्ञान से ही ज्ञात होता है। विकार के लक्ष से विकार दूर नहीं होता, लेकिन विकार का लक्ष छोड़कर त्रिकाली वीतरागस्वरूप निज चैतन्यस्वभाव का आश्रय करने से विकार दूर होजाता है। इसलिए ज्ञान-आनंदस्वरूप अपने आत्मा की श्रद्धा करना ही प्रथम धर्म है।

उष्णता पानी का स्वभाव नहीं है, पानी का स्वभाव तो उष्णता को मिटाने का है। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव विकार का कर्ता नहीं किन्तु उसे दूर करने का है। विकार भावों से होने वाले इस संसार के भवभ्रमण का ताप दूर करने के लिए शांत चैतन्यस्वरूप में ढलना चाहिए। मैं एक चैतन्य हूँ और यह सब संयोग मुझसे पृथक् हैं, संयोग के लक्ष से जो भाव होते हैं वह विकार है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो ज्ञाता-द्रष्टा और आनंद का अनुभव करना ही है। इस प्रकार चैतन्यस्वरूप को समझना वह धर्म है। स्वभाव को समझकर उसमें स्थिर होने से

अज्ञान और विभाव दूर हो जाते हैं। त्रिकाल में धर्म की एक ही रीति है। आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अरिहंत या सिद्ध भगवान आदि किसी भी परवस्तु के आश्रय से धर्म समझ में नहीं आता, किन्तु विकार और दुःख ही होता है। तीनों काल मे अपने एकरूप स्वभाव के आश्रय से ही धर्म समझ में आता है।

(८२) आत्मा का तैरने का स्वभाव कैसे ज्ञात होता है?

लकड़ी का स्वभाव पानी में तैरने का है, उसका वह स्वभाव किसप्रकार ज्ञात होता है? लकडी के टुकड़े कर डाले तो उसका तैरने का स्वभाव दिखाई नहीं देगा, क्योंकि वह आंखों से दिखाई नहीं देता; लकड़ी को मुँह में डालकर चबाए या अग्नि में जलाए तो भी उसका स्वभाव ज्ञात नहीं होगा; उसे घिसकर शरीर पर लगाए तो भी उसका वह स्वभाव ज्ञात नही होगा। इस प्रकार किसी भी इन्द्रिय द्वारा लकड़ी का स्वभाव ज्ञात नहीं होता, किन्तु अपने ज्ञान को बढ़ाने से ही लकड़ी का स्वभाव ज्ञात होता है। अथवा पानी में लकड़ी पड़ी हो तो वह तैरती है—ऐसा देखकर भी उसके स्वभाव का निर्णय किया जा सकता है। लकड़ी की भाँति यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाला है, उसका स्वभाव भी तैरने का है, उसका ज्ञानस्वभाव विकार में नही डूबता, किन्तु विकार से पृथक् का पृथक् रहता है अर्थात् तैरता है। चैतन्य का स्वभाव रागादि से एकमेक हो जाने का

नहीं है, किन्तु पृथक् रहने का है। वह आत्मस्वभाव किस प्रकार ज्ञात होता है? किसी पर के सम्मुख देखने से या विकार से अथवा इन्द्रियज्ञान से वह ज्ञात नहीं होता। आत्मस्वभाव को जानने का एक ही उपाय है कि त्रिकाली आत्मस्वभाव की ओर अपने ज्ञान को बढाना। ज्ञान अपने स्वभाव की ओर उन्मुख करके स्वभाव को देखे तभी आत्मा का तैरने का स्वभाव ज्ञात होता है।

जैसे, लकड़ी का छोटा-सा टुकड़ा हो या बड़ा भारी पाँचसौ मन का लक्कड़ हो, लेकिन दोनों का तैरने का स्वभाव है, उसे जानने की एक ही रीति है कि उसे पानी में डालना, और गर्म पानी का शीतल स्वभाव जानने की एक ही रीति है कि उसे ठण्डा करना। लेकिन यदि गर्म पानी में गहरे तक हाथ डाले तो कहीं उसकी शीतलता ज्ञात नहीं होगी। यह दोनो दृष्टान्त हैं। उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह विकार मे नही डूबता, किन्तु उससे पृथक् का पृथक् ऊपर ही तैरता है। उस ज्ञानस्वभाव को जानने के लिए वर्तमान पर्याय के सामने देखता रहे तो वह ज्ञात नहीं होगा। जो आत्मस्वभाव है उसमें अपने ज्ञान को ढालने से ही वह ज्ञात होता है। बाह्य के अनेक संयोग और पर्याय के क्षणिक विकार को न देखकर अपना असंग-स्वभाव चैतन्य से परिपूर्ण है, उस स्वभाव का विश्वास करके ज्ञान को स्वभाव में युक्त करे तभी स्वभाव ज्ञात होता है और सम्यग्ज्ञान होता है। एक प्रकार के स्वभाव के आश्रय से पर्यायें भी एक प्रकार की (शुद्धरूप) होती है, वही धर्म है।

यहाँ आचार्यदेव ज्ञानस्वभाव का पर से भिन्नत्व समझाते हैं। पर से ज्ञान पृथक् है इसलिए पर के आश्रय से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो आत्मस्वभाव के ही आश्रय से होता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वतः पूर्ण है, उसी के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है। रूप से ज्ञान का पृथक्त्व समझाया। अब, वर्ण से ज्ञान के पृथक्त्व का वर्णन करते हैं।

❀ वर्ण से ज्ञान का भिन्नत्व ❀

वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण पुद्गल द्रव्य का गुण है, अचेतन है; इसलिए ज्ञान को और वर्ण को व्यतिरेक है, अर्थात् ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है।

रूप और वर्ण–दोनों चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं; परन्तु उनमें अन्तर मात्र इतना है कि रूप कहने से वस्तु के आकार की मुख्यता है और वर्ण कहने से उसके रंग की मुख्यता है।

(८३) वर्ण से ज्ञान माने तो अधर्म

वर्ण अर्थात् रंग; लाल, पीला, काला और सफेद ऐसे पांच प्रकार के रंग हैं, वे अचेतन पुद्गल के रंगगुण की पर्यायें हैं। सिर में काले बाल होते हैं, वहाँ यदि ऐसा माने कि इन बालों को देखने से मुझे उनका ज्ञान हुआ, तो वह जीव अपने ज्ञान स्वभाव की रुचि छोड़कर बालों की रुचि करता है, इससे उसे अधर्म होता है। और यदि ऐसा समझे कि काले बालों आदि के अवलम्बन से मैं नहीं

स्वरूप है–ऐसा नहीं है, और जो भाँति भाँति के रंग आदि दिखाई देते हैं वे भ्रमरूप नहीं परन्तु सत हैं, जगत के पदार्थ हैं। और ज्ञानस्वभावी आत्मा भी स्वतंत्र पदार्थ है। रंग है, इसलिए ज्ञान है–ऐसा नहीं है। ज्ञान आत्माश्रित है और वर्ण पुद्गलाश्रित है—इस प्रकार ज्ञान की और वर्ण की स्पष्टतया भिन्नता है। वर्ण से भिन्न ज्ञान-स्वभाव के अनुभवन का उपाय यह है कि ज्ञान का लक्ष वर्ण की ओर से छोड़कर त्रिकाली स्वभाव की रुचि करके उस स्वभाव की ओर उन्मुख करना चाहिए। जो ज्ञान संयोगों की ओर ही देखता रहता है वह ज्ञान आत्मस्वभाव को नहीं जान सकता, परन्तु सर्व संयोगों की ओर से लक्ष उठाकर एक स्वभाव की ओर ही एकाग्र होने से सम्यग्ज्ञान होता है। वास्तव में तो अपने परिपूर्ण स्वभाव को लक्ष मे लेकर ज्ञान उसमे स्थिर हो वहाँ बाह्य संयोगों का लक्ष नहीं छोड़ना पड़ता, किन्तु वह स्वयमेव छूट जाता है।

(८७) कौनसा ज्ञान आत्मा को जानता है?

अस्तिस्वभाव से आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है और नास्ति से शास्त्र के अक्षर, रूप, रंग आदि से आत्मा पृथक् है; वर्णादि मे आत्मा की नास्ति है इससे उन वर्णादि के लक्ष से होने वाला ज्ञान भी वास्तव में आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान कार्य करता है उसे आत्मा का स्वरूप कहा जाता है। आत्मा का स्वभाव आत्मा की रीति से–आत्मा के लक्ष से समझना चाहे तो समझ मे

आता है। आत्मा होकर आत्मा को समझना चाहे तो वह समझ में आता है, किन्तु अपने को निर्बल, जड़ के आश्रित माने तो आत्मा समझ में नहीं आता। आत्मा का जो ज्ञान पर लक्ष से कार्य करता है वह ज्ञान आत्मस्वभाव के साथ एकता नहीं करता, इससे वह ज्ञान आत्मा को नहीं जानता। ज्ञान की वर्तमान पर्याय अनेक प्रकार के पर का आश्रय-लक्ष छोड़कर एकरूप परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप का आश्रय करे तो आत्मस्वभाव के साथ उसकी एकता होती है, और वह ज्ञान आत्मा को यथार्थ जानता है। पश्चात् वह ज्ञान स्वभाव के साथ एकता रखकर पर को भी यथार्थ जानता है,-यही धर्म की रीति है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार धर्म नहीं होता।

(८८) रुचि करे तो स्वभाव को समझ लेना सरल है

कोई लोग कहते हैं कि-इसमें तो हमें कुछ भी खबर नहीं पड़ती, कोई बाहर की बात करो तो खबर पड़े! उसका उत्तर:—बाह्य पदार्थों में तो आत्मा है ही नहीं। बाह्य पदार्थों से तो आत्मा पृथक् है, इससे आत्मा के धर्म में बाह्य बात कैसे आयेगी? आत्मा बाहर का कुछ भी कर ही नहीं सकता। और, बाह्य रुचि होने से बाहर का ही दिखाई देता है, उसी प्रकार यदि अंतरस्वभाव की रुचि करे तो यह भी बराबर समझ में आ सकता है। पर वस्तुएँ-शरीर की क्रियादि दिखाई देती हैं, उन्हें कौन जानता है? शरीर वाणी इत्यादि

छोड़कर स्वभाव का आश्रय नहीं करता। स्वभाव के आश्रय बिना दया-दान-भक्ति आदि पुण्यभाव करे तो भी संसार-परिभ्रमण ही होता है। लेकिन मैं पर का कुछ भी करने वाला नहीं हूँ और पर के कारण मेरा ज्ञान नहीं है-इस प्रकार अपने ज्ञान को पर से बिलकुल भिन्न समझे तो पर का अहंकार छोड़कर ज्ञानस्वभाव की रुचि करे, उससे धर्म हो और संसारपरिभ्रमण दूर हो।

(९१) सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ

वर्तमान ज्ञान को चैतन्यतत्व की ओर उन्मुख करके स्वभाव को समझना ही सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ है। बाह्य में पर को जानने का ज्ञान का विकास वह वास्तव में पुरुषार्थ नहीं है। व्यापार, डाक्टरी, वकालात आदि कलाओं मे ज्ञान का जो विकास देखाई देता है उस में वास्तव में वर्तमान पुरुषार्थ का कार्य नहीं है, परन्तु पूर्व का विकास वर्तमान में दिखई देता है। वहाँ बाह्य पदार्थों के कारण भी ज्ञान का विकस नहीं है। वर्तमान में पढकर फिर वैसा कमाने का भाव पाप है, उस पापभाव के कारण ज्ञान का विकास कैसे होगा? यदि पाप से ज्ञान विकसित होता हो, तब तो बहुत पाप करने से ज्ञान अधिक विकसित होकर केवलज्ञान हो जाये! परन्तु ऐसा नहीं है। वर्तमान में मेढक आदि को चीरने के पापपरिणाम है उनके कारण कहीं डाक्टरी का ज्ञान विकसित नहीं होता, वह तो पूर्व का विकास दिखाई देता है। और वर्तमान मे जो पापपरिणाम हैं

उनके कारण ज्ञान का ह्रास होता जाता है। यहाँ पापपरिणामों की तो बात नहीं है, परन्तु शुभ परिणाम करके शास्त्रादि पढ़े और ज्ञान का विकास दिखाई दे वह भी वास्तव में आत्मकल्याण का कारण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान भी राग के आश्रय से हुआ है। रागादि के लक्ष से रहित अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष से जो ज्ञान विकसित होता है वही सम्यग्ज्ञान है, तथा वही आत्मा की मुक्ति का कारण है।

(९२) जीव की वर्तमान बुद्धिमानी से पैसा नहीं मिलता

अपनी वर्तमान चतुराई के कारण मैं पैसादि प्राप्त कर सकता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु धनप्राप्ति का भाव पाप है उसके कारण धन नहीं आता। धन तो पूर्व के पुण्य के कारण आता है। गायों को काटने वाले महा पापी कसाई, यदि प्रतिदिन हजारों रुपये कमाते हैं, तो क्या वह गायें काटने की पापबुद्धि का फल है? वर्तमान पाप के फल में तो भविष्य मे नरक के दुःखों का संयोग होगा। वर्तमान में जो रुपया मिल रहा है वह पूर्व के पापानुबंधी पुण्य का फल है। हिंसा–झूठ–चोरी आदि के कारण पैसे की प्राप्ति नहीं होती। और सत्यादि शुभ परिणाम करे उनके कारण भी वर्तमान में पैसा नहीं मिलता। किसी जीव को वर्तमान में पुण्यपरिणाम होते हैं लेकिन पूर्व पाप के उदय के कारण वर्तमान मे लक्ष्मी आदि संयोग नहीं होते। बाह्य का कोई भी संयोग–वियोग हो उसका कर्ता आत्मा नहीं है, और न उन संयोगों के कारण ज्ञान होता है। इसलिए जिसे आत्महित करना हो उसे पैसा आदि पर संयोगों की और बाह्य ज्ञान

की रुचि छोड़कर असयोगी आत्मस्वभाव की ही रुचि करके उसकी पहिचान करना चाहिए। यही आत्महित का उपाय है।

(९३) धर्म करने के लिए किसके सामने देखना ?

इस जगत में अपना ज्ञानस्वभाव है और जगत के अन्य पदार्थ भी हैं। जिसे ज्ञान और आनन्द प्रगट करना हो उसे कहाँ देखना ? अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर यदि पर के सन्मुख देखे तो दुःख और अज्ञान ही होते हैं। और अपने ज्ञानस्वभाव का ही आश्रय करके पर वस्तुओं का लक्ष छोड़ दे तो स्वाभाविक सुख का अनुभव प्रगट होता है। अपने आत्मस्वभाव का ही स्वीकार न करे तो फिर धर्म कहाँ करेगा ?

इस जगत में अकेला आत्मा ही हो और दूसरे पदार्थ न हों तो अकेले आत्मा मे भूल नहीं होगी। अकेला आत्मा किसके लक्ष से भूल करेगा ? और यदि अकेले आत्मा के लक्ष से भूल होती हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकती। आत्मा के अतिरिक्त पर पदार्थ हैं, उनका आश्रय करने से जीव अपने स्वरूप को भूलता है, इससे दुःख है। आत्मा अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप को देखे तो उस में से सुख प्रगट होता है। पहले अपने सुखस्वभाव को भूलकर राग-पुण्य-पापादि का आश्रय करने से सुख-शांति का वेदन नहीं होता था; और अब यथार्थ समझपूर्वक अन्तरंगस्वभाव का आश्रय लेने से स्वभावसुख का वेदन होता है,—यही सुख का सच्चा उपाय है। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने के लिए ही यहाँ

आचार्यदेव ने सर्व पर द्रव्यों से ज्ञान के स्पष्ट भिन्नत्व का वर्णन किया है। वर्ण से भिन्नत्व का वर्णन पूर्ण हुआ; अब गंध से ज्ञान के बिलकुल भिन्नत्व का वर्णन करते हैं।

❀ गंध से ज्ञान का भिन्नत्व ❀

गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध पुद्गल द्रव्य का गुण है; अचेतन है; इसलिए ज्ञान और गंध का भिन्नत्व है।

(९४) जो ज्ञान पर के आश्रय से जाने वह अचेतन है, और जो स्वभाव की एकता पूर्वक जाने वह मोक्ष का कारण है

गंध अचेतन है, वह कुछ नहीं जानती; उसे अपनी खबर नहीं है। ज्ञान चेतन है वह परिपूर्ण जानता है; स्व-पर को जानता है, भिन्न भिन्न प्रकार की गंध हो वहाँ ज्ञान अनेकता के आश्रय से नहीं जानता किन्तु स्वभाव की एकता रखकर जानता है। इसलिए गंध से ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान गंध को जानने में स्वभाव की एकता छोड़कर गंध के आश्रय से जानता है उस ज्ञान को आचार्यदेव अचेतन कहते हैं। ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है-स्थायी रहता है और बढ़ता है। गंध के आश्रय से ज्ञान प्रगट नहीं होता-स्थायी नहीं रहता और बढ़ता नहीं है। इसलिए तू पर की रुचि छोड़कर, स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव की रुचि कर! ज्ञान, ज्ञानस्वरूप रहकर पर का आश्रय किये बिना स्व-पर को जानता है।

पहले ज्ञान की अल्पदशा होती है और फिर वह बढ़ती है, तो वह अधिक ज्ञान कहाँ से आया? पर द्रव्य तो अचेतन है, उसके अवलम्बन से ज्ञान प्रगट नहीं होता; अल्पदशा मे से अधिक ज्ञान की दशा नहीं आई है। अंतर में द्रव्यस्वभाव ज्ञान से पूर्ण भरा हुआ है, उसी के आधार से ज्ञान प्रगट होता है। जिस प्रकार पानी से भरे हुए घडे में से पानी झरता—टपकता है, उसी प्रकार ज्ञान से भरे हुए आत्मस्वभाव में से ही ज्ञानपर्याय प्रगट होती है। चेतन-स्वभाव का आश्रय छोड़कर यदि पर के आश्रय से ज्ञान हो तो वह चेतनस्वरूप नहीं है। अपने त्रिकाली चेतनस्वभाव में वर्तमान ज्ञानपर्याय की एकता करने से जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है और वह मोक्ष का कारण है।

(९५) ज्ञेयों को यथावत् जानने पर भी उनका आश्रय नहीं है, किन्तु स्वभाव का ही आश्रय है

अखण्ड चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा रखकर ज्ञान में अनेक प्रकार के पदार्थ और विकारभाव भले ही ज्ञात हों, वहाँ पर को जानने से ज्ञान खण्डित नहीं होता, क्योंकि वह अनेक प्रकारों का आश्रय नहीं करता, ज्ञान में एक स्वभाव का ही आश्रय होने से स्वभाव के साथ ज्ञान की एकता बढ़ती जाती है।

प्रश्नः—समयसार के समय समयसार का और प्रवचन-सार के समय प्रवचनसार का ज्ञान होता है, तो इसप्रकार ज्ञान पर का आश्रय करके जानता है न?

उत्तरः—नहीं; ज्ञान पर के आश्रय से नहीं जानता। सामने जैसा ज्ञेय हो वैसा जानता है, परन्तु विपरीत नहीं जानता। समयसार को समयसार के रूप में जानता है और प्रवचनसार को प्रवचनसार के रूप में जानता है, वहाँ ज्ञेय के आश्रय से ज्ञान नहीं है, परन्तु ज्ञान की वैसी ही योग्यता है। ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि ज्ञेयों को यथावत् जानता है। समयसार हो उसे समयसार के ही रूप में जानता है, किन्तु प्रवचनसार के रूप मे नहीं जानता। तथापि समयसार के कारण समयसार का ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान तो अपने स्वभाव से है। सामने प्रवचनसार रखा हो तथापि उस समय अंतर मे समयसार का विचार करके ज्ञान उसे जानता है, इसलिए ज्ञान स्वतन्त्र है। इसप्रकार ज्ञान की स्वतन्त्रता समझने से ज्ञेय का आश्रय छोड़कर जीव अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय करता है, इससे स्व—पर का भेदज्ञान होता है, भेदज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है; चाहे जिस ज्ञेय को जानते हुए भी प्रति समय सम्यग्ज्ञान को तो एक त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का ही आश्रय है। ज्ञान को श्रुतज्ञान का, शब्द का या रूपादि का आश्रय नहीं है। इसलिए भिन्न भिन्न ज्ञेयों को जानने पर भी ज्ञान तो स्वभाव के आश्रय से एक ही रूप है। इसलिए ज्ञान को ज्ञान का ही (आत्मा का ही) आश्रय है, श्रुत या वाणी का आश्रय ज्ञान को नहीं है।

(९६) भेदज्ञान करने में क्रम नहीं होता

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि—पहले श्रुत से ज्ञान

का भिन्नत्व बताया, फिर शब्द से, फिर रूप से–इस प्रकार क्रमशः वर्णन किया जाता है, परन्तु उनका आश्रय छोड़ने में कहीं क्रम नहीं पड़ता। पहले श्रुत का आश्रय छूटे, फिर शब्द का और फिर रूप का,–इस प्रकार क्रम नहीं पड़ता; परन्तु अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव का आश्रय करते ही ज्ञान में से सर्व ज्ञेयों का आश्रय एक साथ ही छूट जाता है। एक एक ज्ञेय के लक्ष से ज्ञेयों का आश्रय छोडना चाहे तो नहीं छूट सकता; परन्तु एक अखण्डस्वभाव का आश्रय करने से समस्त ज्ञेयों का आश्रय छूट जाता है। इसप्रकार सर्व ज्ञेयों से ज्ञान का भेदज्ञान एक ही साथ होता है, भेदज्ञान में क्रम नहीं पड़ता।

(९७) एक स्वभाव का आश्रय करने से अपूर्व भेदज्ञान होता है

आत्मा स्व–पर का ज्ञाता–द्रष्टा है। अज्ञान भाव से वह प्रत्येक पर पदार्थ के प्रति लक्ष करके रुकता है, और उतना ही अपना स्वरूप मानता है। यदि अनन्त सामर्थ्य से भरपूर अपने एक स्वभाव का आश्रय करे तो पर मे एक-एक का आश्रय छूट जाये और स्वभाव के आश्रय से ज्ञान का विकास होते होते एक ही साथ सब कुछ जाने–ऐसा ज्ञान प्रगट हो। आत्मा वस्तु और ज्ञानादि गुण त्रिकाल हैं, और पर्याय उसका अंश है। त्रिकाली द्रव्य का अंश है वह यदि त्रिकाली का आश्रय करे तो अंशी के साथ अंश अभेद होता है और पर के साथ एकता की मान्यता छूट जाती

है, इससे स्व-पर का अपूर्व भेदज्ञान होता है। उस भेदविज्ञान में पर से भिन्नत्व का ज्ञान है और अपने स्वभाव के साथ एकता का ज्ञान है। स्वभाव के साथ एकता वह अस्ति है और पर से भिन्नता वह नास्ति है। इस प्रकार भेदज्ञान में अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त आ जाता है।

(९८) धर्म में किसका ग्रहण और किसका त्याग?

प्रश्नः—इसमें कुछ छोडने की बात तो नहीं आई?

उत्तरः—आत्मा ने पर को अपना माननेरूप जो विपरीत मान्यता पकड़ी है, उसे छुडाने की इसमें बात है। किसी पर वस्तु को तो आत्मा ने पकड़ा नहीं है कि उसे छोड़े! आत्मा में हाथ-पग या दांत नहीं हैं कि जिनसे वह पर वस्तु को पकडे या छोड़े। आत्मा ने अपने स्वभाव को भूलकर 'विकार है वह मैं हूँ'-इस प्रकार अपनी अवस्था में विकार की पकड़ कर रखी है। जिसने अपने परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप की पकड़-श्रद्धा करके उस विकार की पकड छोडी है उसने छोड़ने योग्य सब कुछ छोड़ दिया है। स्वभाव का ग्रहण और विकार का त्याग ऐसा ग्रहण-त्याग ही धर्म है। इसके अतिरिक्त पर वस्तु को आत्मा ने पकडा नहीं है, वह आत्मा में कभी प्रविष्ट नहीं होती, तब फिर आत्मा उसे छोडेगा कहाँ से? मै पर को छोड दूं-ऐसा जो मानता है, वह जीव पर का अहंकार करने वाला-मिथ्यादृष्टि है।

(९९) साधक के निर्मल पर्याय के अनेकप्रकार होने पर भी आश्रय तो स्वभाव की एकता का ही है

स्वभाव की रुचि करने से अनेक पर पदार्थों का आश्रय

एक ही साथ छूट जाता है, और पर्याय मे प्रति समय स्वभाव के साथ एकता बढती जाती है, तथा रागादि की अनेकता दूर होती जाती है। पर्याय की शुद्धता बढती जाती है, उस शुद्धता की तारतम्यता यद्यपि अनेक प्रकार की है; परन्तु उस प्रत्येक पर्याय मे एक स्वभाव का ही आश्रय बढ़ता जाता है इस अपेक्षा से उसमें एक ही प्रकार है। शरीर, मन, वाणी, शास्त्रादि अनेक पदार्थों के आश्रय से ज्ञान मानना वह धर्म नहीं है। परन्तु उन शरीरादि और राग-द्वेषादि से भिन्न एक ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से ही शुद्धता प्रगट होती है, वही धर्म है।

(१००) आत्मा का आश्रय लेने से, समस्त पर का आश्रय एक ही साथ छूट जाता है, उसमें क्रम नहीं होता

यहाँ आचार्यदेव परवस्तुओं के द्रव्य–गुण–पर्याय से ज्ञान को भिन्न बताते हैं और आत्मा के द्रव्य–गुण–पर्याय से अभेद बताते हैं। श्रुत, शब्द, रूप, वर्ण हैं वे ज्ञान नहीं हैं–इस प्रकार अनेक से भिन्नत्व बतलाने में कथन मे क्रम पड़ता है परन्तु उन सबसे पृथक् ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने में क्रम नहीं होता। ज्ञान अपने स्वभाव की ओर ढला कि वहाँ समस्त पर का आश्रय छूट गया। पहले श्रुत से पृथक् करके स्वभाव का आश्रय करे और फिर शब्द से, वर्ण से पृथक् करके स्वभाव का आश्रय करे–ऐसा क्रम नहीं होता। परवस्तु के आश्रय मे अनेकप्रकार होते थे, इससे वर्ण

से भिन्न, शब्द से भिन्न—इसप्रकार अनेकप्रकार से कहा है, उन सब में स्वभाव का आश्रय तो लगातार एक ही प्रकार का है। आत्मा के ज्ञान को पर का आश्रय नहीं है, और स्वभावका आश्रय करने में क्रम नहीं है, अर्थात् पहले अमुक पदार्थ का आश्रय छूटे और फिर अमुक पदार्थ का आश्रय छूटे—इस प्रकार पराश्रय छोड़ने में क्रम नहीं है; जितना स्वभाव का आश्रय करे उतना समस्त पर का आश्रय छूट जाता है।

(१०१) पर को जानते समय भी स्वाश्रय के बलसे साधकत्व स्थायी रहता है।

परसे भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान होने के पश्चात् अनेक प्रकार के परज्ञेयों को ज्ञान जानता है, तथापि उस समय स्वभाव की रुचि छोड़कर पर को नहीं जानता; पर को जानने से मेरा स्वाश्रय छूट जाता है—ऐसी शंका ज्ञान में नहीं पडती। चाहे जिस पर को और रागादि को जानने पर भी श्रद्धा-ज्ञान में तो एक स्वाश्रय का ही आदर रहता है; इससे उस समय स्वाश्रय के बल से ही साधकत्व बना हुआ है, और स्वाश्रय के ही बल से उसमें वृद्धि होती रहती है। इससे साधक को पर को जानते समय भी वास्तव में तो ज्ञान की स्वाश्रयोन्मुखता ही बढ़ती है और पराश्रयोन्मुखता दूर होती जाती है। इस प्रकार स्वाश्रय ही धर्म है।

(१०२) धर्म का क्रम

इस प्रकार स्वाश्रय-स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करना

वह धर्म की प्रथम भूमिका है। पश्चात् स्वभाव में विशेष ढलने से रागादि दूर होते जाते हैं, पराश्रय भाव छूटता जाता है और अन्त में वीतरागता होकर पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जाता है, केवलज्ञान होता है–जीवनमुक्त दशा होती है। इस के पश्चात् देह रहित होकर सर्वथा मुक्त सिद्धभगवान हो जाता है। ऐसा धर्म के प्रारम्भ का, मध्य का और पूर्णता का क्रम है।

(१०३) ज्ञानी और अज्ञानी की करुणा मे महान अंतर: ज्ञानी को करुणा के समय भी धर्म और अज्ञानी को अधर्म

जिसने अपने त्रिकाली स्वभाव का आश्रय किया है, उसे अस्थिरता के कारण राग हो, तो वह पर के कारण नहीं मानता। पर जीव को दु:खी देखने के कारण राग नहीं मानता परन्तु अपनी अस्थिरता के कारण करुणाभाव हो जाता है। और उस समय भी अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय छोड़े बिना उसे जानता है, इससे उस समय भी सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञानरूपी धर्म है। और जो पर जीव दु:खी हो रहा है, उसे रोटी नहीं मिलती–इस कारण से या किसी भी संयोग के कारण दु:ख नहीं है, परन्तु अज्ञानभाव से और मोह से दु:ख है। यह शरीर मेरा है; और आहारादि के बिना नहीं चल सकता–ऐसी देहदृष्टि से ही उसे दु:ख है। उस का वह दु:ख बाह्य संयोग से–रोटी मिलने से दूर नहीं होता, परन्तु वह जीव स्वयं देह दृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि करे

तभी उस का दुःख दूर होता है। दूसरा कोई उस का दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है;- ऐसा भान ज्ञानी को होने से उन्हें पर के प्रति एकत्वबुद्धि से करुणाभाव नहीं होता, और मैं पर को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ-ऐसा वे नहीं मानते। इससे करुणा का रागभाव हुआ उस समय भी स्वभाव के आश्रय से उन के धर्म बना हुआ है। वास्तव में स्वभाव के आश्रय से वे राग के भी ज्ञाता ही हैं। रोटी आदि का क्षेत्रांतर होना वह जड़ की क्रिया है, और आत्मा के भावों का बदलना वह आत्मा की क्रिया है। प्रत्येक वस्तु का क्षेत्रांतर या भावांतर (भिन्न भिन्न प्रकार की अवस्था) वस्तु के अपने स्वभाव से ही होते हैं। दूसरा कोई कहे कि मैं रोटी आदि का क्षेत्रांतर कर दूँ या दूसरे को मैं सुखी कर दूँ (भावान्तर कर दूं) तो वह जीव सत्य वस्तुस्वरूप को नहीं समझा है। आहार-पानी को लेने-देने की क्रिया आत्मा नहीं करता। उनकी क्षेत्रान्तर आदि क्रिया अपने आप जैसी होना हो वैसी होती है। पर जीव की करुणा आने से ऐसा माने कि इसके दुःख के कारण मुझे करुणा उत्पन्न हुई, और मैं इसका दुःख मिटा दू, अथवा आहारादि देने की क्रिया मैं करूँ-तो वह जीव करुणाभाव के पुण्य के साथ ही मिथ्यात्व का महान पाप बांधता है, इससे करुणाभाव के समय भी विपरीत मान्यता के कारण उसे अधर्म ही होता है।

(१०४) सबसे महान जीवहिंसा और सच्ची दया

प्रश्नः—यदि लोग ऐसा समझेंगे कि आत्मा पर जीव को बचा या मार ही नहीं सकता, तो दया कम हो जायेगी न?

उत्तरः—इस प्रकार सच्चा समझने में ही सच्ची दया आती है। अनादि से विकार का और पर का कर्ता अपने को मानकर अपने ज्ञानस्वभाव की हिंसा कर रहा है; यदि यह सच्चा समझले तो वह हिंसा रुक जाये और अपनी सच्ची दया प्रगट हो। और जिसे ऐसी स्वदया प्रगट हो उस जीव को, दूसरे जीव को मारने का तीव्र कषायभाव होगा ही नहीं, इससे स्व-दया मे पर-दया सहज ही आ गई। पर जीवों को तो कोई मार या बचा नहीं सकता। रागी जीव को अपने कारण अनुकम्पाभाव होता है, परन्तु वह पर को बचाने मे समर्थ नहीं है। जीव अपने भावों में दया या हिंसा करता है, उस में मिथ्यात्व वह अपने जीव की सबसे बड़ी हिंसा है। सच्ची समझ से वह सबसे महान जीवहिंसा दूर होती है और सच्ची स्व-दया प्रगट होती है। नीचे की दशा में अनुकम्पा आदि का शुभभाव आता अवश्य है, परन्तु उस का आश्रय करने योग्य नहीं है; इस के आश्रय से ज्ञान या धर्म नहीं है। यदि उस शुभ-विकल्प का आश्रय माने तो उस के आश्रय से तो अज्ञान और मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है, वही हिंसा है, और इसका फल संसार है।

(१०५) आत्मा की नौका किसके विश्वास से तैरती है ?

कोई आत्मा ज्ञानस्वभाव से रहित नहीं होता; और कोई पुद्गल स्पर्श-रस-गंध-वर्ण रहित नहीं होता। गंध पुद्गल

का गुण है और ज्ञान जीव का गुण है। गंध के कारण ज्ञान नहीं होता, परन्तु त्रिकाली चैतन्यस्वभावी आत्मा है, उसी के आधार से ज्ञान होता है। आत्मा स्पर्श-रस आदि से पृथक्, पर से भिन्न, देव-गुरु-शास्त्र से भिन्न और पुण्य पाप के भावों से भी भिन्न मात्र ज्ञानानंदस्वभावी है; उसके विश्वास से-रुचि से-श्रद्धा से ही धर्म होता है। जिस प्रकार लोकव्यवहार मे कहते हैं कि-'विश्वास से नाव तैरती है' उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव के विश्वास से आत्मा की नौका तैरती है, अर्थात् चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा और आश्रय से संसार-समुद्र से पार होकर आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है। चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा के बिना किसी अन्य के विश्वास से धर्म नहीं होता और आत्मा की नौका संसार-समुद्र से पार नहीं होती। पर के विश्वास में रुके वह संसार समुद्र में डूब जाता है।

रस से ज्ञान का भिन्नत्व

अब रस से ज्ञानस्वभाव को स्पष्टरूप से भिन्न बतलाते हैं।

रस, ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस पुद्गल द्रव्य का गुण है अचेतन है, इसलिए ज्ञान का और रस का व्यतिरेक है।

(१०६) रस में ज्ञान नहीं है और न रस के कारण ज्ञान होता है

भिन्न भिन्न प्रकार के रस ज्ञान में ज्ञात हों वहाँ अज्ञानी लोग ऐसा मानते हैं कि इस रस के कारण हमें उसका

ज्ञान हुआ। खट्टा रस आने से खट्टे का ज्ञान होता है और मीठा रस आने से मीठे का ज्ञान होता है—इसप्रकार वे रस के आश्रय से ज्ञान मानते हैं। उन्हें रस और ज्ञान की भिन्नता का भान नहीं है। आचार्यभगवान कहते हैं कि हे भाई! तेरा ज्ञान रस में नहीं है और न रस के आश्रय से तेरा ज्ञान है। रस को जानते समय तुझे रस का अस्तित्व भासित होता है, परन्तु उस समय तेरे आत्मा मे कुछ है या नहीं? उस समय तेरा ज्ञानस्वभाव तुझमें कार्य करता है या नहीं? या वह रस में ही चला गया है? तेरा ज्ञान त्रिकाल आत्मा के साथ अभेद है, उसकी श्रद्धा कर और रस की श्रद्धा छोड! रस के कारण ज्ञान हुआ यह मान्यता छोड! ज्ञान तो तेरी स्वभावशक्ति से ही होता है; इसलिए ज्ञान मे स्वभाव का आश्रय कर!

(१०७) भेदविज्ञानी के ज्ञान का कार्य

भेदविज्ञानी रस को जानता हो और अल्पराग होता हो, उस समय भी ज्ञानस्वभाव की एकता मे ही उसका ज्ञान कार्य कर रहा है। रस के साथ या राग के साथ एकता से उसका ज्ञान कार्य नहीं करता, किसी समय स्वभाव की एकता छोड़कर पर को नहीं जानता, इससे उसके प्रतिसमय ज्ञान की शुद्धता ही बढ़ती जाती है।

(१०८) अज्ञानी के ज्ञान का कार्य

अज्ञानी जीव स्वभाव को न मानने से बाह्य मे सुख मानते है। रस को जानने से उसमें एकाकार हो जाते हैं

कि—इस रस में बड़ा आनंद आया ! बहुत मीठा लगा ! अरे भाई ! काहे का आनंद ? तेरे आत्मा में आनंद सुख है या नहीं ? रस तो जड़ है; क्या जड़ में तेरा आनंद है ? और क्या जड़ रस तेरे आत्मा मे प्रविष्ट हो जाता है ? तेरा आनंद-सुख तो तेरे ज्ञानस्वभाव में ही है, सम्पूर्ण ज्ञान-स्वभाव को भूलकर एक रस को जानने से ज्ञान वहीं राग करके रुक गया उसे अज्ञानी जीव रस का स्वाद मानते हैं। परन्तु ज्ञान पर में न रुककर आत्मस्वभावोन्मुख होने से स्वभाव का अतीन्द्रिय आनन्द आता है, वही सच्चा सुख है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु में सुख नहीं है।

(१०९) ज्ञान की पर में लीनता वह अधर्म, और स्वभाव में लीनता वह धर्म

गुलाबजामुन, लड्डू या आम के रस आदि का स्वाद आत्मा में नहीं आता। ज्ञान में मात्र ऐसा ज्ञात होता है कि यह रस है, यह स्वादिष्ट है। किन्तु ऐसा ज्ञात नहीं होता कि मै स्वादिष्ट हूँ। इसप्रकार रस का और ज्ञान का भिन्नत्व ही है। परन्तु अज्ञानी जीव स्वभाव से च्युत होकर रस की रुचि में लीन हुआ है-वह अधर्म है। और पर पदार्थों की रुचि से अधिक होकर-छूटकर स्वभाव की रुचि द्वारा वर्तमान अवस्था को स्वभाव में धारण कर रखे-बना रखे, वह धर्म है। वर्तमान अवस्था विकार में न रहकर स्वभाव में रहे वह धर्म है। ज्ञानस्वरूप आत्मा और समस्त पर वस्तुएँ बिलकुल पृथक् हैं-ऐसा जाने बिना और आत्म-स्वरूप की रुचि किए बिना कभी भी धर्म नहीं होता।

卐 वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा ३० शुक्रवार 卐

(११०) सुख का सच्चा साधन क्या है?

प्रत्येक जीव सुखी होना चाहता है, सुखी होने के लिए प्रथम तो यह समझ लेना चाहिए कि सुख का स्वरूप क्या है और उस के साधन क्या हैं। वर्तमान अवस्था में दुःख है, इससे उसे दूर कर के सुखी होना चाहता है, इसलिए वर्तमान अवस्था में दुःख है उसे भी जान लेना चाहिए। यदि वर्तमान मे स्वयं परिपूर्ण सुखी हो तो पर पदार्थों के सन्मुख देखना न हो और न उन्हें प्राप्त करने की इच्छा हो। अज्ञानी जीव पर वस्तु प्राप्त करके अपना दुःख दूर करना चाहता है, परन्तु वह प्रयत्न मिथ्या है। आत्मा का स्वभाव ही पूर्ण सुखरूप है, उसके विश्वास से अन्तर-साधन द्वारा ही वह प्रगट होता है। किन्हीं बाह्य साधनों द्वारा आत्मा को सुख नहीं होता। अज्ञानी पर में सुख मानकर पर की चाह करता है, उसके बदले स्वभाव की चाह-रुचि करे तो सुखी हो जाये। आत्मा ज्ञानस्वाभावी स्वाधीन परिपूर्ण है, पर से पृथक् है, पर के अवलम्बन से उसे सुख हो-ऐसा वह पराधीन नहीं है। पर्याय में रागादि होने पर

भी अंतर में श्रद्धा करना चाहिए कि मै अपने स्वभाव से परिपूर्ण सुखरूप हूँ, ज्ञानादि अनंत गुणों का भंडार हूँ, अपने ही अवलम्बन से मुझे सुख है। यदि ऐसी श्रद्धा न करे तो जैसे जैसे पर पदार्थ आयें उनमें सुख मानकर ज्ञान वहीं एकाकार हो जायेगा। इस से उसका ज्ञान वर्तमान में पर लक्ष से होने वाले विकार में ही रुक जायेगा, परन्तु सुख से परिपूर्ण अपना स्वभाव है उसका आश्रय नहीं करेगा, इस से उसे सच्चा सुख नहीं होगा। पर्याय में शुभ-अशुभ भाव होने पर भी उस समय त्रिकाल एकरूप परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा और विश्वास दूर न हो उसे स्वभाव के आश्रय से सुख प्रगट होता है और विकार दूर होता जाता है।

(१११) किसके आश्रय से परिवर्तित होने से सुख प्रगट होता है?

और वर्तमान पर्याय में पर को जानने का ज्ञान का जो विकास है उसीका विश्वास करे अर्थात् उस विकास को ही पूर्ण आत्मा मानले, तो उस वर्तमान पर लक्षी विकास से आगे बढ़कर त्रिकाली स्वभाव की ओर नहीं ढलता; इससे त्रिकाली के आश्रय से उसकी वर्तमान दशा नहीं बदलती, परन्तु पर के आश्रय से ही परिवर्तित होती है। त्रिकाली के आश्रय बिना विकार और अपूर्णता दूर होकर शुद्धता और पूर्णता नहीं होती अर्थात् सुख नहीं होता। सुख किसी दूसरे पदार्थ में नहीं है, और पर को जाने उतनी अपनी दशा में भी सुख नहीं है। सुख अपने स्वभाव में है, उसका आश्रय करके परिणमित होने से पर्याय में सुख प्रगट होता है।

(११२) स्वलक्ष से धर्म, और परलक्ष से अधर्म

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; शरीर, वाणी, देव-गुरु-शास्त्र इस आत्मा से पृथक् पदार्थ हैं। प्रत्येक वस्तु में द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकरूप हैं और उनका कार्य वर्तमान में नवीन नवीन होता है। धर्म और अधर्म यह दोनों कार्य हैं, जीव की अवस्था है। अधर्म क्यों होता है और धर्म क्यों होता है-इसकी यहाँ बात है। जीव की जो वर्तमानदशा है वह पर में से नहीं होती, वह वर्तमानदशा यदि देव-गुरु-शास्त्रादि पर के सन्मुख देखती रहे तो धर्म नहीं होता। और उस वर्तमान अंश जितना ही आत्मा को माने तो भी धर्म नहीं होता। अपनी अवस्था पर निमित्तों की ओर ही देखती रहे अथवा उस वर्तमानदशा के सन्मुख ही देखती रहे तो उससे अधिक होकर स्वभावोन्मुख नहीं होती। यदि वह वर्तमान अवस्था त्रिकाली द्रव्य की रुचि करके उस द्रव्य के आश्रय से अभेद हो तो पर से भेदज्ञान हो और पर का-विकार का या वर्तमान पर्याय का आश्रय छूट जाये और स्वभाव के आश्रय से शांति हो-धर्म हो। पर लक्ष से अधर्म है और स्व लक्षसे धर्म है।

(११३) पूर्ण के आश्रय से पूर्णता और अपूर्ण के आश्रय से विकार

आत्मा एक स्वतन्त्र वस्तु है, वह स्वतः परिपूर्ण और त्रिकाल स्थायी है। वर्तमान अवस्था मे जो राग-विकार या अपूर्णता दिखाई देती है उतना ही आत्मा नहीं है; क्योंकि

यदि उस वर्तमान भाव जितना ही आत्मा हो तो राग दूर करके वीतरागता कहाँ से होगी? आत्मा वर्तमान भाव जितना नहीं है परन्तु त्रिकाल पूर्ण है। यदि उस पूर्ण का आश्रय करे तो अवस्था मे भी पूर्णता प्रगट हो। परन्तु उस पूर्ण को स्वीकार न करे और वर्तमान भाव जितना ही अपने को माने तो उस अपूर्ण और विकारी भाव के आश्रय से तो अपूर्णता और विकार ही होगा अर्थात् अधर्म ही होगा। वर्तमान अशुद्ध दशा के आश्रय से अशुद्धता दूर नहीं होती, परन्तु त्रिकाली शुद्ध स्वभाव के आश्रय से अशुद्ध दशा दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है। धर्मी होने के लिए प्रथम क्या करना चाहिए उसकी यह बात है। प्रथम पर से और विकार से भिन्न अपने आत्मस्वभाव को पहिचानने का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। पर से भिन्न आत्मस्वभाव कैसे जाना जाता है—उसी का यह वर्णन हो रहा है।

(११४) आचार्य भगवान भेदज्ञान कराते हैं

भगवान श्री कुदकुंदाचार्यदेव ने इन ३९० से ४०४ तक की पन्द्रह गाथाओं में ज्ञान को स्पष्टतया सर्व पर द्रव्यों से भिन्न बताया है। उस पर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अद्भुत टीका की है। ऐसी आध्यात्मिक टीका इस काल में भरतक्षेत्र में अजोड़ है। उसका यह विस्तार होता है। आचार्यदेव पहले तो ज्ञान को सर्व पर द्रव्यों से, उनके गुणों से और उनकी पर्यायों से भिन्न बताते हैं, विकार से भी भिन्न बताते हैं और फिर आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय

के साथ ज्ञान की एकता है—ऐसा बतलाएँगे। इस प्रकार अस्ति–नास्ति द्वारा ज्ञानस्वभाव का पर से भेदज्ञान कराया है।

❁ स्पर्श से ज्ञान का भिन्नत्व ❁

स्पर्श नामक पुद्गल द्रव्य का गुण है। स्पर्श है वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श अचेतन है, इसलिए ज्ञान का और स्पर्श का भिन्नत्व है।

रूखा–चिकना, नरम–कठोर, हलका–भारी, ठंडा–गरम, यह आठ प्रकार का स्पर्श है, वह पुद्गल की अवस्था है, उस के आधार से आत्मा का ज्ञान नहीं है। उस के आधार से जो ज्ञान होता है वह सुख का कारण नहीं है।

(११५) त्रिकाली द्रव्य के आधार बिना भेदज्ञान का सार प्रगट नहीं होता। त्रिकाली द्रव्य के आधार से रहित ज्ञान अचेतन है

पुद्गल का स्पर्शगुण आत्मा में नहीं है और आत्मा के ज्ञान, सुख, श्रद्धा, चारित्र आदि कोई गुण स्पर्श में नहीं हैं। स्पर्श को जानने जितना आत्मा का ज्ञान नहीं है। स्पर्श के ज्ञान से आत्मा मे श्रद्धा–ज्ञान–एकाग्रता नहीं होते। स्पर्श को जानने वाला ज्ञान मुझे आत्मस्वभाव की एकाग्रता में मदद करेगा–ऐसा मानने वाले ने स्पर्श और ज्ञान को पृथक् नहीं माना है। त्रिकाली सामर्थ्य में से वर्तमान ज्ञान आता है, उस ज्ञान के द्वारा त्रिकाली सामर्थ्य को जानना चाहिए, उस के बदले स्पर्श को जानने जितना ही जो ज्ञान को मानता

है उस ने स्पर्श के आधार से ज्ञान माना है। उस का ज्ञान परमार्थ से अचेतन है। स्पर्श के कारण ज्ञान हुआ—ऐसा न माने, लेकिन वर्तमान ज्ञान के आश्रय से (पर्याय के लक्ष से) ज्ञान का परिणमन माने तो वह भी पर्यायमूढ मिथ्यादृष्टि है। एक के पश्चात् एक ज्ञानअवस्थारूप होने वाला तो त्रिकाली ज्ञाता द्रव्य है। त्रिकाली द्रव्य परिणमित होकर अवस्थाएँ होती हैं। उस त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से ज्ञान होता है—इस प्रकार श्रद्धा करके वर्तमान ज्ञान को उस त्रिकाली द्रव्य में लीन करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है—वही भेदविज्ञान का सार है। जो ज्ञान त्रिकाली द्रव्य के साथ एकता न करे और मात्र वर्तमान विकास मे ही एकता माने वह ज्ञान मिथ्या है।

स्पर्श तो अचेतन है, उस मे तो ज्ञान नहीं है, परन्तु स्पर्श के लक्ष से जो ज्ञान होता है वह भी चेतन के साथ एक नहीं होता। पर्यायदृष्टि से हुआ ज्ञान राग के साथ एकत्व रखता है इससे वह वास्तव में ज्ञान नहीं है। त्रिकाल ज्ञानस्वभाव के लक्ष से जो ज्ञान होता है वही सम्यग्ज्ञान है। स्वभावोन्मुख सम्यग्ज्ञान आत्मा ही है; आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं।

(११६) शास्त्र के लक्ष से भेदविज्ञान नहीं होता

यहाँ जो ज्ञान स्वभावोन्मुख हुआ उसी को चेतन कहा है, वर्तमान अवस्था में राग को कम करके शास्त्रादि के अभ्यास से ऐसा कहे कि—'पर से ज्ञान नहीं होता, पर से

ज्ञान पृथक् है'—और इस प्रकार शास्त्र के लक्ष में ही रुका रहे तो वह ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान नहीं है; क्योंकि उस जीव को वर्तमान पर्याय में पर के लक्ष से प्रगट हुए क्षणिक-ज्ञान की ही रुचि है, वह वर्तमान अंश को ही पूर्ण स्वरूप मान लेता है, उसे त्रिकाल ज्ञानस्वभाव की रागरहित श्रद्धा नहीं है; वह भी शास्त्र के लक्ष से राग में ही रुका हुआ है। पर लक्ष से तीव्र कषाय में से मंदकषाय हुई है—इससे मात्र राग ही बदला है, परन्तु वह राग से छूटकर स्वभाव में नहीं आया है, स्वभाव का परिणमन नहीं हुआ है। इससे उसे भेदविज्ञान नहीं होता।

ज्ञान अपने स्वभाव से ही होता है। बाहर के किसी भी पदार्थ से ज्ञान नहीं होता—ऐसा समझने में पहले सत् का श्रवण तथा शास्त्र का लक्ष होता है, परन्तु उस श्रवण के लक्ष से या शास्त्र के लक्ष से ज्ञान नहीं है—ऐसा समझकर उन शास्त्रादि का लक्ष छोड़कर यदि अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढले तो सम्यग्ज्ञान होता है, और राग से पृथक् होता है।

(११७) स्व-पर को भिन्न जानकर स्व का आश्रय करना वह भेदविज्ञान सार का है

शास्त्रादि तो स्वयं ही अचेतन हैं, वे ज्ञान के कारण नहीं हैं, और देव–गुरु चेतन हैं, परन्तु उन का ज्ञान उन्हीं में है; दूसरे आत्मा में उन का ज्ञान किंचित् नहीं आता। वे इस आत्मा को ज्ञान के कारण बिलकुल नहीं होते। इस आत्मा का ज्ञान स्व में परिपूर्ण है और देव–गुरु में किंचित्

नहीं है, इससे इस आत्मा की अपेक्षा से दूसरे सभी आत्मा अचेतन हैं, उन का ज्ञान इस आत्मा में नहीं आता। इसलिए देव-गुरु या सिद्धभगवान का लक्ष भी छोड़ने योग्य है। सिद्ध-भगवान के लक्ष से भी इस आत्मा को राग होता है। इस-लिए सब से भिन्न अपने आत्मा को जानकर उसी का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होती है। स्व-पर को भिन्न जानकर निज आत्मस्वभाव का आश्रय करना ही भेदविज्ञान का सार है।

(११८) सत्यधर्म के श्रवण, ग्रहण, धारणा, मंथन और परिणमन की उत्तरोत्तर दुर्लभता

अनंतानंतकाल में मनुष्यत्व मिलना दुर्लभ है। मनुष्य भव में ऐसी सत्यधर्म की बात सुनने को कदाचित् ही मिलती है। इस समय तो लोगों को यह बात बिलकुल नयी है। ऐसी सत्य बात सुनने को मिलना महा दुर्लभ है, सुनने के पश्चात् बुद्धि में उसका ग्रहण होना दुर्लभ है, 'यह क्या न्याय कहना चाहते हैं'-ऐसा ज्ञान में आ जाना दुर्लभ है। ग्रहण होने के पश्चात् उसकी धारणा होना दुर्लभ है। सुनते समय अच्छा लगे और सुनकर बाहर निकलने पर सब भूल जाये तो उसके आत्मा में कहाँ से लाभ होगा? श्रवण, ग्रहण और धारणा करके पश्चात् एकान्त में अपने अन्तरंग में विचार करे, अन्तर में मंथन करके सत्य का निर्णय करे यह दुर्लभ है। परन्तु जिसने सच्ची बात ही न सुनी हो वह ग्रहण क्या करेगा? और धारणा काहे की करेगा?

अंतर में यथार्थ निर्णय करके उसे रुचि मे परिणमित करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना वह महान दुर्लभ अपूर्व है। इस सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी प्रकार जीव का कल्याण नहीं होता। देखो, इसमे प्रारम्भिक उपाय कहा है। प्रथम तो सासारिक लोलुपता कम करके तत्व श्रवण करने के लिए निवृत्ति लेना चाहिए। श्रवण, ग्रहण, धारणा, निर्णय और रुचि में परिणमन—इतने बोल आए। वे सभी एक से एक दुर्लभ हैं। श्रवण करके विचार करे कि मैंने आज क्या सुना है? नया क्या समझा है?—इसप्रकार अंतर मे प्रयत्न करके समझे तो आत्मा की रुचि जागृत हो और तत्व समझ में आये। परन्तु जिसके सत्य के श्रवण, ग्रहण और धारण का ही अभाव है उसे तो सत्‌स्वभाव की रुचि ही नहीं होती और सत्‌स्वभाव की रुचि के बिना उसका परिणमन कहाँ से होगा? रुचि के बिना सत्य समझ में नहीं आता और धर्म नहीं होता।

(११९) सत्‌धर्म के श्रवण के पश्चात् आगे बढ़ने की बात

भगवान ने कहा है अथवा तो ज्ञानी कहते हैं—इसलिए यह बात सत्य है—इस प्रकार पर के लक्ष से माने तो वह शुभभाव है, वह भी सच्चा ज्ञान नहीं है। प्रथम देव-गुरु के लक्ष से वैसा राग होता है, परन्तु देव-गुरु के लक्ष को छोड़कर स्वय अपने अतरस्वभावोन्मुख होकर रागरहित निर्णय करे कि मेरा आत्मस्वभाव ही ऐसा है, तो उसके

आत्मा मे सच्चा ज्ञान हुआ है। इससे कहीं सत्समागम का या श्रवणादि का निषेध नहीं है,-सत्समागम से सत्‌धर्म का श्रवण किए विना तो कोई जीव आगे बढ़ ही नहीं सकता, किन्तु उन श्रवणादि के पश्चात् आगे बढ़ने की यह बात है। मात्र श्रवण करने में धर्म न मानकर ग्रहण, धारणा और निर्णय करके आत्मा में रुचिपूर्वक परिणमित करना चाहिए।

(१२०) ज्ञान का फल सुख

स्पर्श है वह ज्ञान नहीं है, इससे अमुक वस्तु का स्पर्श होने से उसका ज्ञान नहीं होता, और कोमलादि स्पर्श के कारण सुख नहीं होता। ज्ञान और सुख एक ही हैं। अज्ञान दूर हुआ वह ज्ञान का फल-ऐसा कहा जाता है, वह नास्ति की अपेक्षा से है, अस्ति से कहने में ज्ञान का फल सुख है।

(१२१) त्रिकाली तत्व को स्वीकार किए बिना निर्मल पर्याय का पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता

आत्मा अनादि-अनंत ज्ञानादि गुणों का पिण्ड है, आनंद-स्वरूप है, वर्तमान में जो अपूर्णदशा है वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार सोना अपनी वर्तमान एक कुंडलादि अवस्था जितना नहीं है, परन्तु अँगूठी, हार इत्यादि अनेक अवस्थाएँ होने की शक्ति उसमें विद्यमान है। एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्था हो, वहाँ सोना तो स्थायी रहता है; और सोने की अवस्था सोने के ही कारण होती है; सोनार या हथोड़ी आदि के कारण नहीं होती। यदि

सोने को एक कुंडलादि अवस्था जितना ही माने तो 'इस सोने में से कुंडल बदल कर अंगूठी बनाना है'—ऐसा जो भिन्न पर्याय का ज्ञान है वह मिथ्या सिद्ध होगा। भिन्न भिन्न अवस्थाएँ बदलती होने पर भी सोना सोनेरूप स्थायी रहता है—ऐसा ज्ञान स्वीकार करे तभी कुंडल तोड़कर कड़ा आदि करने का भाव होता है। इसप्रकार वहाँ भी सोने की ध्रुवता स्वीकार करता है। उसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था जितना नहीं है, परन्तु त्रिकालस्थायी ध्रुव है, इस प्रकार ध्रुवस्वभाव को स्वीकार करे तो उस ध्रुव के आधार से नवीन निर्मलदशा का उत्पाद हो और मलिनदशा का व्यय हो। ध्रुव के आधार से वर्तमान पर्याय होती है—ऐसा न मानकर जो पर के कारण आत्मा की वर्तमानदशा को मानता है उसने अपने स्वाधीन तत्व को नहीं माना है। और जिसने वर्तमान पर्याय जितना ही ज्ञान माना है उसे भी वह वर्तमान बदलकर नवीन निर्मल वर्तमान करना नहीं रहता जिसने वर्तमान जितना ही ज्ञान माना है उसे वर्तमान का ही आश्रय करना रहा, परन्तु त्रिकाल ध्रुव का आश्रय करना न रहा। इससे उसने विकारदशा दूर होकर मोक्षदशा प्रगट करने का पुरुषार्थ स्वीकार नहीं किया है, उसका मिथ्यात्व और अज्ञान दूर नहीं होता। उसने एक समय जितना ही आत्मा को माना है परन्तु त्रिकाल आत्मा को स्वीकार नहीं किया है।

(१२२) पर से ज्ञान होता है—ऐसा माने, उसे संयोगों में एकत्वबुद्धि है

आत्मा का ज्ञान पर से होता है—ऐसा माने वह सम्पूर्ण

आत्मद्रव्य का नाश करता है, और जो वर्तमान पर्याय जितना ही आत्मा को माने वह दूसरी अवस्थाओं का नाश करता है—इस से द्रव्य का ही नाश करता है। इन्द्रियों और पर पदार्थों आदि संयोगों के कारण ज्ञान हुआ ऐसा जो मानता है वह जीव उस संयोग के अभाव में ज्ञान का ही अभाव मानेगा, इस से उसने ज्ञान और आत्मा की एकता नहीं मानी है परन्तु ज्ञान की और संयोगों की एकता मानी है। इस जीव को सदैव स्पर्शादि संयोगों की भावना बनी रहती है;—यह अधर्म है। ज्ञान की वर्तमान अवस्था जितना ही आत्मा नहीं है, परन्तु स्थायी ज्ञानस्वभाव से पूर्ण आत्मा है, और उसी में से ज्ञान आता है—इस प्रकार यदि प्रतीति करे तो वह पूर्ण स्वभाव के आश्रय से अपूर्ण दशा को टालकर पूर्ण अवस्था प्रगट करेगा।

(१२३) स्वभाव को समझना वह न्याय है

ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, धर्म का स्वरूप ऐसा ही है। न्याय से वस्तुस्वभाव कहा जा रहा है, जैसा-तैसा मान लेने की बात नहीं है। न्याय का अर्थ है सम्यग्ज्ञान। 'न्याय' शब्द में 'नी' धातु है। 'नी' का अर्थ है ले जाना। जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसे स्वभाव में ज्ञान को ले जाना अर्थात् ज्ञान में यथार्थ वस्तुस्वभाव को समझना वह न्याय है।

(१२४) पर से भिन्नत्व को जाने तो स्व में स्थिर हो

स्पर्शादि के कारण मेरा ज्ञान है—ऐसा मानने वाले को

स्पर्श के ज्ञान से आगे बढ़कर स्वभाव मे ढलना नहीं रहता, स्पर्श का लक्ष छोड़कर स्वभाव में अपने ज्ञान को एकाग्र करूँ—यह बात उसको नहीं रहती, अर्थात् मेरी वर्तमान-दशा हीन है उसे दूर करके स्वभाव के आश्रय से मैं पूर्ण सुखी होऊँगा ऐसा उसे विश्वास नहीं है। इस से यहाँ आचार्य-देव आत्मा का ज्ञानस्वभाव पर से भिन्न बतलाते हैं। अपने ज्ञान को पर से भिन्न जाने तो स्व मे स्थिर हो।

(१२५) अवस्था में नवीन ज्ञान कहाँ से आता है?

ज्ञान चेतन है, ज्ञान की अवस्था चेतन के आधार से होती है या अचेतन के आधार से? चेतन की अवस्था अचेतन के आधार से नहीं होती। जिस प्रकार सोने मे भिन्न भिन्न आकार उसकी अपनी योग्यता—सामर्थ्य से होते हैं—सोनार के कारण नहीं। यदि सोनार के कारण सोने के आकर होते हों तो उस समय सोने के स्वभाव ने क्या किया? उस समय की सोने की अपनी अवस्था क्या हुई? इसलिए सोने के ही कारण उसकी अवस्था होती है। और सोना वर्तमान अवस्था के आकार जितना ही नहीं है, यदि वह वर्तमान आकार जितना ही हो तो फिर वह आकार बदलकर नया आकार कहाँ से आयेगा? उसी प्रकार ज्ञान की नयी नयी अवस्था ज्ञान के ही कारण से होती है, निमित्तों के कारण नहीं। ज्ञेय वस्तु आई इसलिए ज्ञान हुआ, कोमल स्पर्श आया इसलिये उसका ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञान की उस अवस्था के सामर्थ्य से ही नया ज्ञान हुआ है। और स्पर्श की ओर का ज्ञान बदलकर आत्मा की ओर का ज्ञान

करता हो तो वह ज्ञान किसी पर लक्ष से नहीं होता, वर्तमान ज्ञानपर्याय के लक्ष से नहीं होता, पूर्व की अवस्था तो व्यय हो गई है उस मे से नवीन ज्ञान नहीं आता, परन्तु जो नित्यस्थायी द्रव्य है उस ओर उन्मुख होता हुआ ज्ञान आत्मा को जानता है। नित्य के आश्रय से ही ज्ञान आता है। पर ज्ञेय मै नही हूँ, और उन ज्ञेयों में से मेरा ज्ञान नहीं आता, व्यतीत ज्ञानअवस्थाओं में से ज्ञान नहीं आता, राग के कारण ज्ञान नहीं होता, और वर्तमान वर्तती ज्ञानअवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं आती, परन्तु सदैव मेरा ज्ञानस्वभाव है उस मे से सदैव ज्ञानअवस्था होती रहती है;–इस प्रकार यदि अपने ज्ञानस्वभाव की रुचि करके उस ओर उन्मुख हो तो अवस्था में सम्यग्ज्ञान प्रगट हो–धर्म हो और पर की रुचि दूर हो जाये।

(१२६) ज्ञानी स्व के आश्रय से सुखी होता है और अज्ञानी पराश्रय मानकर दुःखी होता है

ज्ञानी को वर्तमान अवस्था का आश्रय नहीं है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव का आश्रय है। अपनी पर्याय के आश्रय से भी धर्म नहीं होता, तब फिर पर वस्तु के आश्रय से धर्म या ज्ञान होता है–यह बात कहाँ रही? अज्ञानी जीव अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर के आश्रय से सुख मानता है, वह अधर्म है। तीनकाल तीनलोक में किसी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं है। अज्ञानी पर का आश्रय मानता है, परन्तु पर वस्तु उसे आश्रय नहीं देती। निमित्त

या पर के आश्रय से कोई जीव सुखी नहीं होता, परन्तु पर का आश्रय मानने वाला स्वयं दुःखी होता है। अपना द्रव्य अपने स्वभाव से परिपूर्ण नित्य परिणामी है, उस द्रव्य के आश्रय से ही प्रत्येक जीव को सुख होता है। त्रिकाली पदार्थ स्वयं अपनी अवस्थारूप से बदलता है, कहीं किसी दूसरे पदार्थ की अवस्था किसी दूसरे पदार्थ रूप परिवर्तित नहीं होती। इसलिए सर्व पर द्रव्यों से भिन्न अपने ज्ञान-स्वभाव को स्वीकार करे तो धर्म हो।

(१२७) ज्ञान की आत्मा के साथ एकता और पर से भिन्नता

स्पर्श अचेतन है, उस मे किंचित् ज्ञान नहीं है, उस की जड़-पुद्गल के साथ एकता है, और ज्ञान से भिन्नता है। और ज्ञान चेतन है, वह परिपूर्ण ज्ञाता है, उस की आत्मा के साथ एकता है, और पुद्गल से भिन्नता है। इस प्रकार जड़ पदार्थों से ज्ञान भिन्न है, इस से जड़ के आश्रय से ज्ञान नहीं है, परन्तु आत्मा के आश्रय से ज्ञान है,-ऐसा समझकर जड़ का आश्रय छोड़कर आत्मस्वभाव का आश्रय करे तो जड़ को और आत्मा को भिन्न जाना कहलाये।

(१२८) पर लक्ष से भेदज्ञान नहीं होता, परन्तु स्व लक्ष से होता है। धर्मी जीव को कैसा भेदज्ञान होता है?

आत्मा सर्व पर वस्तुओं से भिन्न है—ऐसा कहते ही, पर की अपेक्षा बिना अपने ज्ञानस्वभाव से आत्मा परिपूर्ण

है—ऐसा सिद्ध होता है। परसन्मुख देखकर पर से भिन्नत्व का निर्णय नहीं होता, परन्तु अपने परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख देखने से सर्व पर पदार्थों से भिन्नत्व का निर्णय होता है। जिस प्रकार सोने को तांवे के संयोग की अपेक्षा से देखें तो उसे ९८-९९ टंच आदि भेद से कहा जाता है, परन्तु तांवे के संयोग का लक्ष छोडकर अकेले सोने को देखें तो सोना तो सौटची ही है। सोने और तांवे का भेद जानने वाला सोने का ही मूल्य करता है, तांवे का नहीं। उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण है। पर संयोग और पर संयोग के लक्ष से होने वाले भावों की दृष्टि से देखने पर ज्ञान मे अपूर्णता दिखाई देती है, परन्तु पर संयोग और रागादि भावों की अपेक्षा छोड़कर अकेले ज्ञानस्वभाव को देखे तो वह परिपूर्ण ही है, उस में अपूर्णता या विकार नहीं है। इस प्रकार स्व-पर का भेद जानने वाला धर्मात्मा रागादि भावों द्वारा, पर संयोग द्वारा या अपूर्ण ज्ञान के द्वारा आत्मा का मूल्याङ्कन नहीं करता-(उनके जितना ही आत्मा को नहीं मानता) परन्तु उन रागादि से भिन्न जो ज्ञानमात्र स्वभाव है उसी को आत्मा का स्वरूप जानकर उसकी श्रद्धा करता है, उसी का आदर और आश्रय करता है। इससे उसे प्रतिक्षण धर्म होता है। जिसने राग से भिन्न आत्मा को नहीं जाना है वह राग को ही आत्मा का स्वरूप मानता है और उसका आदर करता है; इससे उसे कभी भी धर्म नहीं होता।

(१२९) भेदविज्ञान और उस का फल मुक्ति

जैसे-सोने का पिण्ड जिस तिजोरी मे रखा हो वह

तिजोरी और सोना भिन्न है, उसी प्रकार इस शरीर में स्थित आत्मा वास्तव में शरीर से भिन्न ही है। और जिस प्रकार सोने में तांबे का भाग है वह सोने का स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में जो रागादि अशुद्ध भाव है वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार रागादि रहित शुद्ध ज्ञानस्वभाव से आत्मा को जाने-माने और उस में स्थिर हो तो वीतरागता और केवलज्ञान हो। राग और आत्मा के भेदविज्ञान बिना किसी भी प्रकार मुक्ति नहीं होती।

(१३०) नीतिपूर्वक पैसा कमाने का भाव धर्म है या पाप?

अनेक जीव ऐसा मानते हैं कि हमें व्यापार धंधे में अनीति नहीं करना चाहिए, परन्तु नीति से पैसा कमाना चाहिए। इस नीति को वे धर्म मानते हैं-अर्थात् पैसा भी कमाये और धर्म भी हो। परन्तु इस में धर्म नहीं है। पैसा कमाने का भाव पाप ही है, उस में यदि अनीति न करे-नीति रखे तो कम पाप होता है, परन्तु धर्म नहीं होता। एक सरकारी अफसर ऐसा नीतिवान था कि उसे लाखों रुपये की लांच (रिश्वत) मिले, तो भी नहीं लेता था। एक बार उस ने एक ज्ञानी से पूछा-महाराज! लोग मुझे पाँच पाँच लाख रुपये रिश्वत देने आते हैं, लेकिन मै नहीं लेता तो मुझे कितना धर्म होता होगा? ज्ञानी ने उत्तर दिया-उस में किंचित् धर्म नहीं होता। नौकरी भले ही नीतिपूर्वक करो,

लेकिन उस में पैसा कमाने का भाव है इससे पाप ही है। रिश्वत आदि अनीति न करे तो कम पाप हो—इतना ही; बाकी उस में धर्म तो हो ही नहीं सकता। स्व-पर के भेद-विज्ञान बिना धर्म कैसा?

(१३१) आत्मा के भान बिना वास्तव में पाप घट ही नहीं सकता

व्यापार-धंधे आदि मे अनीति, चोरबाजारी करने वाले को महान पाप है और नीतिपूर्वक करे तो अल्प पाप है। परन्तु वास्तव में पाप कम हुआ कब कहलाता है? जो पाप दूर हुआ वह फिर कभी न हो तो वह कम हुआ कहलाता है। ऐसा कब होता है? मै पाप और पुण्य रहित ज्ञानस्वरूप हूँ, मै पाप को कम करने वाला सर्व पापों से रहित ही हूँ, पाप या पुण्य मेरा स्वरूप ही नहीं है—इस प्रकार अपने ज्ञान-स्वभाव के लक्ष से जो पाप दूर हुआ सो हुआ, वह फिर कभी नहीं होगा। स्वरूप की एकाग्रता से क्रमशः पुण्य-पाप दूर होते होते सर्वथा वीतरागता हो जायेगी। पाप को छोड़ने वाला स्वयं सपूर्ण पापरहित कैसा है? पाप को छोड़कर स्वयं किस स्वरूप से रहने वाला है? उस के भान बिना वास्तव में पाप को नहीं छोड़ सकता। अर्थात् अपने आत्म-स्वभाव के लक्ष बिना वास्तव में अनीति नहीं छोड़ सकता-ऐसा निश्चित हुआ।

(१३२) वास्तव में आत्मा के लक्ष बिना अनीति का त्याग नहीं होता

लोग नीति नीति कहते हैं, परन्तु यदि यथार्थरूप से

नीति की सीमा बाँधी जाये तो इस में भी आत्मस्वभाव का ही लक्ष आता है। किस प्रकार आता है? वह कहते हैं:— किसी ने ऐसा निश्चित किया कि 'मुझे अनीति से पैसा नहीं लेना है।' अब चाहे जैसा प्रसंग आये तो भी वह अनीति नहीं करेगा। देह जाने का प्रसंग आ जाने पर भी वह अनीति नहीं करेगा-अर्थात् शरीर छोड़कर भी नीति रखना चाहता है। शरीर कब छोड़ सकता है? यदि शरीर छोड़ने समय अन्दर में डगमगाहट हो-द्वेष हो तो वास्तव में उस का शरीर छोड़ने का भाव नहीं है, परन्तु शरीर उस के अपने कारण से छूटता है। शरीर छूटते समय अन्तर में राग-द्वेष न हो अथवा अनीति करके शरीर रखने का मन न हो तो नीति के लिए शरीर छोड़ा कहलाये। अब, शरीर छोड़ते समय राग द्वेष कब नहीं होता? यदि शरीर के ऊपर ही लक्ष हो तब तो राग द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा। परन्तु शरीर से भिन्न अपने आत्मा को जानकर उस का लक्ष हो तो शरीर को राग-द्वेष बिना छोड़ सकता है। इसलिए 'मैं शरीर से भिन्न हूँ, पैसा और अनीति से रहित मेरा ज्ञानस्वरूप है'-इस प्रकार अपने शुद्धस्वरूप के लक्ष बिना वास्तव में अनीति का त्याग नहीं हो सकता। आत्मा के भान बिना जो अनीति का त्याग करता है उस के वास्तव में पाप दूर नहीं हुआ है, किन्तु वर्तमानपर्यंत मन्दकषाय है।

(१६३) जैनी-नीति

इस प्रकार आत्मा की पहिचान करने में ही सच्ची नीति

आती है। यह 'जैनी-नीति' है। स्वतंत्र वस्तुस्वरूप को यथावत् जानना ही सच्ची नीति है।

पैसादि के आने-जाने की क्रिया तो स्वतंत्र है; जीव इच्छा करता है, परन्तु पर मे कुछ नही कर सकता। इस प्रकार वस्तुस्वरूप समझने में नीति का पालन है, और उससे विपरीत मानना-मैं पर का कर सकता हूँ-ऐसा मानने में अनन्ती अनीति का सेवन है। इच्छा से पर का कार्य भी नहीं होता और इच्छा से ज्ञान भी नहीं होता। इच्छा आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञान का कार्य इच्छा नहीं है और इच्छा का कार्य पर मे नहीं होता। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि अपना प्राणों से भी प्यारा एक ही पुत्र हो, वह बीमार पडा हो, तो, वहाँ वह निरोग हो जाय और उसकी मृत्यु भी न हो ऐसी अपनी तीव्र से तीव्र आकांक्षा होती है तथापि वह मर जाता है। तेरी इच्छा पर में क्या कर सकती है? सब से निकट अपना शरीर है, उसमें भी अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं होता। रोग की इच्छा न होने पर भी शरीर में रोग होता है, और उस रोग को जल्दी मिटाने की इच्छा होने पर भी वह उल्टा बढ़ता जाता है। इस शरीर का भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता, तब फिर बाह्य का तो क्या करेगा? मैं प्रमाणिकता से पैसा कमा लूं-ऐसी जिसकी मान्यता है वह अनीति का सेवन करता है; जैनधर्म की नीति की उसे खबर नहीं है। स्व-पर का भेदज्ञान करना ही जैनीनीति है, और उसका फल मुक्ति है।

(१३४) अनीति का त्यागी

'मुझे अनीति पूर्वक आजीविका नहीं करना है' इस प्रकार जो अनीति का त्याग करना चाहता है, उससे कोई कहे कि अमुक अनीति करो, नहीं तो प्रतिकूलता आयेगी, अथवा अनीति न करे तो प्राण लेने की धमकी दे, तथापि उससे अनीति नहीं होगी, उसी प्रकार जो प्रतिकूलता आवे उस पर खेद भी न हो तो उसे अनीति का त्याग किया कहा जाता है। यदि उसे प्रतिकूलता पर अरुचि आये तो नीति के ऊपर ही अरुचि है, और उसने वास्तव में अनीति का त्याग नहीं किया है। जिसने शरीर को अपना माना है वह अनीति नहीं छोड़ सकेगा। इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मस्वभाव की रुचि में ही सच्ची नीति का पालन और अनीति का त्याग है। स्वभाव के आश्रय से तीन काल की अनीति रुचि में से छूट जाने के पश्चात् अस्थिरता के कारण जो राग–द्वेष होता है उसका भी स्वभाव के आश्रय से नाश करके वीतराग होगा, क्योंकि राग-द्वेष होता है, उसे पर के कारण नहीं मानता और उस राग-द्वेष की रुचि नहीं है; इससे उसका राग-द्वेष मर्यादित है।

(१३५) सच्चा ब्रह्मचर्य कौन पाल सकता है ?

जिस प्रकार ऊपर नीति के सम्बन्ध में कहा है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यादि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। आत्मा की रुचि के बिना वास्तव में अब्रह्मचर्य का त्याग नहीं होता। जिसे आत्मा की दृष्टि नहीं है और देह पर

ही दृष्टि है उसे स्थायी ब्रह्मचर्य-सच्चा ब्रह्मचर्य नहीं होता। कोई सच्चा ब्रह्मचारी हो, उस से कोई कहे कि तू मेरे साथ अमुक दुष्कर्म कर, नहीं तो तुझ पर मिथ्या आरोप लगाकर तुझे मरवा डालूँगा;-इस प्रकार मरण का प्रसंग आए, तो अंतर में खेद किए बिना शरीर का त्याग कर देगा, परन्तु अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करेगा। यदि उस प्रसंग पर अंतर में खेद हो कि-अरे रे! ब्रह्मचर्य के कारण मरण-प्रसंग आया; तो उसे वास्तव में ब्रह्मचर्य की रुचि नहीं है और उसने अब्रह्मचर्य का त्याग नहीं किया है। मृत्यु आये, तथापि शरीर पर राग क्यों नहीं होता? जबकि शरीर से भिन्न, राग-द्वेष रहित, त्रिकालस्वभाव का लक्ष हो तो देह के प्रति ममत्वबुद्धि का राग दूर हो जाये। प्रथम तो ज्ञाता-दृष्टा आत्मस्वभाव की पहिचान करके श्रद्धा का दोष दूर करना चाहिए; श्रद्धा का दोष दूर होने के पश्चात् अल्पकाल मे क्रमशः चारित्र का दोष भी दूर हो जाता है।

(१३६) विकार को कौन दूर करता है?

जीव की अवस्था में जो रागादि विकार होता है वह पर के कारण नहीं होता परन्तु अपनी ही अवस्था की निर्बलता से होता है। यदि पर के कारण रागादि माने, तो स्वयं कभी उसे टालने का प्रयत्न नहीं करेगा। परन्तु अपनी अवस्था की निर्बलता से होता है-ऐसा जाने तो उस निर्बलता की स्वभाव की शक्ति के साथ तुलना करेगा और इस से त्रिकालीस्वभाव का आश्रय करके वह निर्बलता दूर करके वीतराग हो जायेगा।

[६]

卐 वीर स. २४७४ भाद्रपद शुक्ला १ शनिवार 卐

(१३९) धर्म करने वाले जीव को क्या जानना चाहिए ?

आत्मा का धर्म कहाँ होता है ? वह जाने बिना किसी जीव को धर्म नहीं होता। आत्मा का धर्म कहीं पर में नहीं होता परन्तु आत्मा की पर्याय में होता है। अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर जो पर्याय ढले, उस में धर्म होता है। जिसे धर्म करना है उसे प्रथम यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि मैं आत्मा हूँ, मुझ में ज्ञानादि अनंत शक्तियाँ त्रिकाल हैं, और प्रति समय मेरी अवस्था बदलती रहती है। वह बदलती हुई अवस्था पर का आश्रय करती है वह अधर्म है, और पर का आश्रय छोड़कर, रागरहित होकर स्वभावोन्मुख होकर वहाँ एकाग्र होने से जो दशा प्रगट होती है वह धर्म है और स्वभाव मे परिपूर्ण एकाग्रता होने से पूर्णदशा—केवलज्ञान प्रगट होता है। वह केवलज्ञान जिन्हें प्रगट हुआ है ऐसे देव कैसे होते हैं ? उन की वाणीरूप शास्त्र कैसे होते हैं ? और उस केवलज्ञान के साधक गुरु कैसे

होते हैं ? उन की पहिचान धर्म करने वाले जीव को प्रथम होनी ही चाहिए।

(१४०) अज्ञान है वह अधर्म, और सम्यग्ज्ञान धर्म

आत्मा में ज्ञानगुण त्रिकाल है, वह प्रति समय प्रगट होता है; उस की अवस्थाएँ पाँच प्रकार की हैं–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। उन में से यहाँ मति–श्रुतज्ञान की बात है। पाँच इन्द्रियों और मन द्वारा जो ज्ञान जाने उसे मतिज्ञान कहते हैं और इन्द्रियों के बिना, मन द्वारा तर्क से जो ज्ञान जानता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यहाँ आचार्य भगवान ऐसा बतलाते हैं कि–यह ज्ञान पर लक्ष से जानें तो वे मिथ्यामति और मिथ्याश्रुत हैं,–वह अधर्म है। और स्वभाव के लक्ष से हों तो वह ज्ञान सम्यक्मति और सम्यक्श्रुत हैं,–यह धर्म है और यही मोक्ष का कारण है।

श्री आचार्यदेव ने पहले मतिज्ञान सम्बन्धी बात की है। भगवान की दिव्यध्वनि है वह ज्ञान नहीं है, और उस के लक्ष से होने वाला मतिज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है। शब्द, रूप, रस, गंध या वर्ण-सभी मतिज्ञान के विषय हैं, वे अचेतन हैं और उन शब्दादि के लक्ष से होने वाला ज्ञान भी अचेतन है। इन्द्रियों द्वारा शब्दादि के लक्ष से जो मति-ज्ञान होता है-वह सम्यक् मतिज्ञान नहीं है परन्तु मिथ्याज्ञान है, इससे वास्तव में वह अचेतन है; क्योंकि वह ज्ञान त्रिकाली स्वभाव के साथ एकता नहीं करता। त्रिकाली स्वभाव के साथ एकता करके, स्वभाव के लक्ष से जो मतिज्ञान होता है वह सम्यक् मतिज्ञान है।

(१४१) ज्ञानी का सारा ज्ञान क्यों सम्यक् है ? और अज्ञानी का क्यों मिथ्या है ?

शब्द-रूपादि पाँच इन्द्रियों के विषयों को मतिज्ञान जानता है, उन शब्दादि विषयों में तो आत्मा नहीं है, उन में ज्ञान या धर्म नहीं है, परन्तु उन शब्दादि के लक्ष से जो बोध हुआ उस में भी सम्यक्त्व नहीं है, वह ज्ञान मिथ्या है, उस मे धर्म नहीं है, उस में आत्मा नहीं है। मिथ्यारूप मति-श्रुतज्ञानपर्याय का विषय क्या है, और सम्यक्रूप मति-श्रुतज्ञानपर्याय का विषय क्या है ? उस का यह वर्णन है। ज्ञान की जो अवस्था स्त्री, शरीरादि अथवा देव-गुरु-शास्त्रादि परपदार्थों के ही लक्ष से जानने का कार्य करे वह अज्ञान है, मिथ्या मति-श्रुत है। और जो ज्ञानस्वभाव की एकता के लक्ष से जाने वह सम्यक्मति-श्रुतज्ञान है। ज्ञानी का ज्ञान जिस समय स्त्री आदि को या देव-गुरु को जानता हो उस समय भी उन का ज्ञान त्रिकाली स्वभाव की एकता में ही ढलता है, इसलिए उन्हें सम्यक्मति-श्रुतज्ञान है, और वह पर्याय भी प्रति समय वृद्धि को प्राप्त होती है। अज्ञानी को मिथ्याज्ञान क्यों है ? त्रिकाली ज्ञानस्वभावरूप आत्मा है, उस की एकता को छोड़कर जो ज्ञान पर लक्ष से इन्द्रिय और मन से जानने का कार्य करता है वह अज्ञान है। भगवान की वाणी का श्रवण पर विषय है, वीतरागदेव की मूर्ति भी पर विषय है, उस के लक्ष से होने वाला ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है, इससे वास्तव मे वह चेतन नहीं है,

यह राग है, कषाय है, अचेतन है। जो पर लक्षी ज्ञान है उस के विश्वास से जीव को धर्मदशा प्रगट नहीं होती।

(१४२) अपने सत्स्वभाव की बात

यह अपने सत्स्वभाव की बात है। जीव ने अनंतकाल में अपने सत्स्वभाव की बात रुचिपूर्वक नहीं सुनी है और न अपने स्वभाव की सँभाल की है।

(१४३) धर्म प्रगट करने की आकांक्षा किसे होती है? और उसे किस प्रकार धर्म प्रगट होता है?

सोने में एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्था करने की इच्छा किसे होती है? जिसे सोने के स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति है कि यह सोना वर्तमान कड़ारूप अवस्था जितना ही नहीं है, परन्तु यह कड़ारूप दशा बदलकर कुंडलरूप दशा सोने के अपने आधार से प्रगट हो और सोना स्थायी रहे—ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसी जिसे खबर और विश्वास हो उसे सोने की कड़ेरूप अवस्था बदलकर कुंडलादि करने की इच्छा होती है। उसी प्रकार आत्मा में अधर्मदशा पलटकर धर्मदशा करने की आकांक्षा किसे होती है? सम्पूर्ण आत्मा अधर्मरूप नहीं हो गया है, परन्तु अधर्मदशा दूर करके धर्मदशारूप होने की शक्ति आत्मा में है। अधर्मदशा दूर होकर धर्मदशा प्रगट होने पर भी आत्मा ध्रुवरूप से स्थायी रहता है। अधर्म का नाश होने के साथ आत्मा का नाश नहीं हो जाता,—इस प्रकार जिसे आत्मा

का नित्यत्व और अधर्मदशा की क्षणिकता भासित हुए हों उसी को अधर्मदशा का नाश करके नवीन धर्मदशा प्रगट करने की आकांक्षा होती है। जिस जीव को इस प्रकार धर्म-दशा प्रगट करने की इच्छा हुई है, उसे धर्म कैसे प्रगट होता है? वह बात यहाँ चल रही है।

यह आत्मा ज्ञानस्वभावी त्रिकाल है, उसका ज्ञान सर्वथा कूटस्थ नहीं है, परन्तु प्रति समय परिणमित होता है। उसकी पर लक्षी मति-श्रुतज्ञान अवस्था, जिन स्पर्श-रसादि पर विषयों को जानती है वे स्पर्शादि तो अचेतन हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता।

दूसरी बात—उन स्पर्शादि पर विषयों के लक्ष से राग कम करके जो ज्ञान हुआ वह ज्ञान चैतन्यस्वभाव में से आया हुआ नहीं है—स्वभाव के लक्ष से हुआ नहीं है, त्रिकाली स्वभाव के आधार से बदलकर वह ज्ञानपर्याय नहीं हुई है परन्तु राग कम होकर पर के लक्ष से हुई है, इससे वह सम्यग्ज्ञान नहीं है, उसमें आत्मा नहीं है और न वह ज्ञान धर्म का कारण है।

तीसरी बात—पर विषय या उन के लक्ष से होने वाली ज्ञानदशा की प्रतीति करके बदलने से तो धर्म होता नहीं है।

जिसे धर्म करना हो उसे त्रिकाली स्वभावशक्ति के लक्ष से पर्याय बदलकर त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने से स्वलक्ष से सम्यक् मतिश्रुत ज्ञान होते हैं—वह धर्म है।

पांच इन्द्रियों के विषय (शब्दादि) अचेतन हैं, उनसे

ज्ञान होता है–ऐसा जो मानता है वह अज्ञानी है। स्वभाव से च्युत होकर पांच इन्द्रियों के विषयों के लक्ष से जो मतिज्ञान होता है वह भी अज्ञान है। अंशतः राग कम करके पर लक्ष से जो ज्ञान विकसित हुआ वह भी अज्ञान है। यदि उसी को आत्मा माने तो धर्म नहीं होता। परन्तु उसका लक्ष छोड़कर त्रिकाली स्वभाव की अंतर्मुखदृष्टि करके ज्ञानस्वभावोन्मुख होने से जो ज्ञानदशा होती है वह सम्यक् मतिज्ञान है,—यह ज्ञान मोक्ष का कारण होता है।

(१४४) सफल अवतार

अहो, यह आत्मा के स्वभाव की अपूर्व बात है। इस समय प्रमाद दूर करके आत्मा की जागृति करने का समय है। मनुष्यत्व पाकर भी अनेक जीवों का अधिकांश काल तो प्रमाद मे चला जाता है, धर्म के नाम पर भी प्रमाद में और हँसी–मजाक मे समय जाता है। यदि इस जीवन मे आत्मा की जागृति करके सत्‌स्वभाव नहीं समझा तो अवतार व्यर्थ है। और यदि अपूर्व रुचिपूर्वक आत्मा का सम्यग्ज्ञान प्रगट कर ले तो उसका अवतार निष्फल नही परन्तु केवलज्ञान दशा को जन्म देने के लिए उसका सफल अवतार है।

(१४५) साधक को कौन सा ज्ञान मोक्ष का कारण होता है? (ज्ञानी के ज्ञान की प्रमाणता)

पर पदार्थों के सन्मुख होने वाले मति–श्रुत ज्ञान को स्वभावसन्मुख करने के लिए यह अधिकार है। अवधि और

मनःपर्यय ज्ञान तो पर विषयों को ही जानता है, उसकी यहाँ पर बात नहीं है। जो मति-श्रुत ज्ञान आत्मा के स्वभाव की ओर ढले वह मोक्ष का कारण होता है। साधक जीव को क्षायिक ज्ञान का तो अभाव है, परन्तु स्वभावोन्मुख हुआ उनका ज्ञान क्षायोपशमिक भावरूप होने पर भी वह विशिष्ट भेदज्ञानरूप सम्यक् मति-श्रुत ज्ञान मोक्ष का कारण होता है। स्वभाव के ओर की विचारश्रेणी मे ज्ञानियों को अंतर में जो सहज न्याय प्रगट होते हैं वे यथार्थ होते हैं और वे ही न्याय शास्त्रों मे से भी निकल आते हैं।

(१४६) ज्ञान में जिस की महिमा भासित हो वहाँ ज्ञान एकाग्र होता है; स्वभाव की महिमा ही शांति का उपाय है।

धर्मात्मा जीव आत्मा के स्वभाव को कैसा जानते हैं— उस की यह बात चल रही है। जिसे धर्म करना हो उसे अपने ज्ञान में आत्मा का यथार्थ मूल्यांकन करना होगा। ज्ञान में जिस की महिमा लगे, उस मे ज्ञान एकाग्र होता है। यदि पर की महिमा करके ज्ञान वहाँ एकाग्र हो तो वह अधर्म है, और आत्मा की महिमा समझकर वहाँ ज्ञान एकाग्र हो तो वह धर्म है। जिस प्रकार—जिन जीवों को विषयों मे या लक्ष्मी आदि में सुखबुद्धि हुई है वे वहाँ एकाग्र होते हैं—जीवन को जोखम मे डालकर भी वे विषयों में कूद पड़ते हैं, क्योंकि उन्हे ज्ञान मे उन की महिमा भासित हुई है। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव अनन्त-

सुखस्वरूप है, पर से भिन्न है—उस स्वभाव की महिमा यदि ज्ञान मे आये तो सब की दरकार छोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में स्थिर हो और सच्ची शांति प्रगट हो,—इस का नाम धर्म है। परंतु यदि ज्ञान मे ज्ञात होने वाले शब्दादि पदार्थ या उन्हें जानने वाले अल्प बोध जितना ही आत्मा का मूल्याङ्कन करे तो वह ज्ञान पर विषयों में और पर्याय-बुद्धि में ही रुक जायेगा, परन्तु वहाँ से हटकर पूर्णस्वभाव की ओर नहीं बढ़ेगा और शांति प्रगट नहीं होगी।

हे भव्य! तुझे आत्मा की शांति प्रगट करना है, तो वह शांति पर वस्तु मे से नहीं आयेगी, पर वस्तुओं के सम्मुख देखने से नहीं आयेगी, विकार या क्षणिक पर्याय के सन्मुख देखने से भी वह शांति नही आयेगी, परन्तु उन सब के लक्ष को छोड़कर अपनी वर्तमान अवस्था को त्रिकाली ज्ञान-स्वभाव में एकाकार कर, तो त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से अवस्था में परिपूर्ण शांति प्रगट होगी।

(१४७) भेदज्ञान करे तो भव का अन्त आये

शब्दादि विषयों में किंचित् ज्ञान नहीं है; इससे उन से तो आत्मा बिल्कुल पृथक् ही है और आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है-आत्मा और ज्ञान किंचित् भिन्न नहीं हैं;—ऐसा भेदज्ञान करके स्वभावोन्मुख हो तो स्वभाव के आश्रय से जीव को सम्यक्मति श्रुतज्ञान प्रगट हो, और अल्पकाल में भव का अन्त आये। इस के अतिरिक्त जो मति-श्रुतज्ञान पर लक्ष से ही कार्य करे वह मिथ्याज्ञान है। स्व लक्ष से सम्यग्ज्ञान

प्रगट किए बिना कोई जीव कषाय कम करे तो उसे पापानुबंधी पुण्य का बंध होता है और साथ ही साथ उसी समय, सम्पूर्ण आत्मस्वभाव के अनादररूप मिथ्यात्व से अनंत पापबंध होता है और अनंत भव बढते हैं।

(१४८) चेतन स्वभाव के साथ जिस की एकता नहीं है वह ज्ञान अचेतन है

त्रिकाली आत्मस्वभाव को भूलकर वर्तमान जितने पर का अथवा उसे जानने वाले क्षणिक ज्ञान का ही मूल्य भासित हो और उसी को आत्मा का स्वरूप माने, उस ज्ञान को आचार्यदेव 'आत्मा' नहीं कहते परन्तु 'जड' कहते हैं। जो ज्ञान चेतन स्वभाव के साथ एकता न करे और पर में एकता करे उसे चेतन नहीं कहते, परन्तु अचेतन कहते हैं। त्रिकाली स्वभाव मे ढलने से जो ज्ञान प्रगट हो और स्वभाव में अभेद हो वह चेतन है, वही आतमा है। ज्ञान की जो अवस्था त्रिकाली चैतन्य मे अभेदता को प्राप्त हुई वह चेतन है, सम्यग्ज्ञान है। परन्तु जो ज्ञान मात्र पर को जानने में ही रुका है वह मिथ्याज्ञान है, उसे यहाँ पर अचेतन कहते हैं; क्योंकि वह आतमा का स्वरूप नहीं है। वर्तमान वर्तती अवस्था यदि स्थायी ज्ञानस्वभाव के साथ एकता को प्राप्त न हो और दया-उपदेश श्रवण आदि के राग में ही रुका रहे तो चैतन्य के परिणमन के त्रिकाली प्रवाह मे भेद पड़ता है, द्रव्य-पर्याय मे भेद पड़ता है, इससे वह अवस्था मिथ्याज्ञानरूप है।

(१४९) आत्मा का पूर्णानन्द किसे प्रगट होता है?

जिस प्रकार—सोने की एक अवस्था बदलकर दूसरी नवीन अवस्था सोने के अपने आधार से होगी, और सोना इतने का इतना ही रहेगा, सोने का नाश नहीं होता—इस प्रकार स्थायी सोने का और उस के आधार से प्रगट होने वाली नवीन दशा का जिसे विश्वास है, उसी को एक गहना बदलवाकर दूसरा गहना बनवाने की इच्छा होती है। उसी प्रकार जिसे त्रिकाली पूर्ण आत्मस्वभाव का ज्ञान में विश्वास है और उस स्वभाव के आश्रय से ही नवीन नवीन निर्मल दशाएँ प्रगट होती है—ऐसा विश्वास है, उस जीव को अशुद्ध-दशा दूर करके निर्मलदशा प्रगट करने की आकांक्षा होती है, अर्थात् जिस का ज्ञान त्रिकालीस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है उसी को निर्मल पर्याय प्रगट करने का पुरुषार्थ होता है। मेरा आनंद या शांति कहीं बाह्य में तो नहीं है, इससे यदि मेरा ज्ञान बाह्य विषयों में फिरता रहे तो उस ज्ञान में भी शांति नहीं है, मेरा त्रिकालीस्वभाव ही ज्ञान और शांति का भण्डार है, इससे यदि अपने ज्ञान को स्वभाव में एकाग्र करूँ तो उस स्वभाव में से ही आनंद और शांति का अनुभव हो-इस प्रकार अंतर्मुख होकर अपने स्वभाव का विश्वास करे तो आत्मा मे निर्मलता प्रगट करने की इच्छा हो, इससे आत्मा की रुचि-शांति-सम्यक्त्व-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र-केवलज्ञानादि शुद्धदशाएँ क्रमशः प्रगट हों। प्रथम रुचि और प्रतीति मे आत्मस्वभाव का विश्वास करके मति-श्रुतज्ञान को उस स्वभाव की ओर उन्मुख करने से सुख का अंश प्रगट

होता है, विकार का अंश दूर होता है। पहले अनंत पर-द्रव्यों में एकता करके जो ज्ञान रुकता था वह ज्ञान अब अनंतगुण से परिपूर्ण आत्मस्वभाव की महिमा में लीन हुआ, इससे अनंत विकार दूर होकर अनंत शांति प्रगट हुई,-अपूर्व आत्मधर्म प्रगट हुआ। अब क्रमशः वह ज्ञान स्वभाव में पूर्ण लीन होने से पूर्ण आनंद प्रगट होगा।

(१५०) मति-श्रुतज्ञान को स्वभावसन्मुख करना वह मुक्ति का उपाय है

धर्म करने वाले जीव को वर्तमान अवस्था बदलकर नवीन शुद्धदशा प्रगट करना है, वह अवस्था कहाँ से आती है? जिस मे शक्तिरूप विद्यमान हो उस में से अवस्था प्रगट होती है। त्रिकालीस्वभाव शुद्धता का भण्डार है, उस की श्रद्धा करके एकाग्र हो तो पर्याय में शुद्धता प्रगट हो। परन्तु यदि त्रिकाली सामर्थ्य का विश्वास न करे और भगवान के लक्ष से होने वाले राग जितना या दयादि भावों जितना ही आत्मा को माने, अथवा राग कम होकर पर लक्ष से जो ज्ञान का विकास हुआ है उस ज्ञान जितना आत्मा को माने तो उस के आधार से ज्ञान की शुद्धता प्रगट नहीं होगी, इससे उस जीव को मिथ्या मति-श्रुतज्ञान ही रहेगे। यदि पूर्णस्वभाव का विश्वास करके उस के आधार से ज्ञान परिणमित हो तो सम्यक्मति-श्रुतज्ञान हो, वह मोक्ष का कारण है। केवलज्ञान तो साधकदशा में होता नहीं है, अवधि-मनःपर्यय ज्ञान का विषय मूर्त पदार्थ हैं, वे ज्ञान-स्वभाव की ओर नहीं ढलते

इससे वे मोक्ष के कारण नहीं है। इस समय तो स्वभाव की ओर ढलते हुए सम्यक्‌मति-श्रुतज्ञान मोक्ष के कारण हैं, इससे इन पन्द्रह गाथाओं मे पर सन्मुख होने वाले मति-श्रुतज्ञान को वहाँ से हटाकर स्वभावसन्मुख करने की रीति आचार्य भगवान ने समझाई है।

(१५१) भेदविज्ञान प्रगट होने से पहले की पात्रता

इस जगत मे सर्वज्ञदेव हैं, उन की वाणी है, श्रुत है, इस जीव को अपूर्णज्ञान है, पर लक्ष से श्रवणादि है, उस में इन्द्रिय-मन निमित्तरूप हैं, राग है,-इस प्रकार सभी के अस्तित्व का स्वीकार तो इस मे आ ही जाता है। जिसे अभी यह बात भी न बैठे, और 'सब मिलकर एक आत्मा है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब सर्वथा असत् है'-ऐसा माने उस जीव को तो तीव्र अज्ञान है। ऐसे जीव को तो भेद-विज्ञान प्रगट करने की पात्रता ही नहीं है। इस जगत में अनंत पृथक् पृथक् आत्मा हैं, और जड़ वस्तुएँ भी हैं, उन प्रत्येक मे अनन्तगुण हैं, उन मे प्रति समय परिणमन होता है। आत्मा के ज्ञान की मति-श्रुतादि अवस्थाएँ होती हैं, उन में सम्यक् और मिथ्या दो प्रकार हैं। पूर्णज्ञान प्रगट करने वाले देव हैं, उस पूर्णज्ञान के साधक गुरु हैं, उन की वाणीरूप श्रुत है। इस प्रकार सब जानकर, मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा-बहुमान छोड़कर, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा-बहुमान करे तब तो अभी निमित्तों का विवेक किया, राग की दिशा बदली, तथापि अभी तक पर लक्षी मिथ्या-ज्ञान है। यदि अपने ज्ञान स्वभाव की ओर ढलकर, निमित्तों

की ओर के राग का और पर लक्षी ज्ञान का निषेध करे तो अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट होता है और देव-गुरु-शास्त्र की ओर के राग को व्यवहार कहा जाता है।

(१५२) वास्तव में व्यवहार कब होता है?

धर्म का प्रारम्भ कैसे हो उसकी यह बात है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र धर्म के निमित्त है। उन निमित्तों को पहिचान कर कुदेवादि मिथ्यात्व के निमित्तों की मान्यता छोडे, उस जीव को देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष से जो मति-श्रुत ज्ञान हो वह भी अभी मिथ्या मति-श्रुत है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को स्वीकार किया उसने अभी तो व्यवहार से व्यवहार को माना है। निश्चयस्वभाव के भान सहित जो व्यवहार हो वही सच्चा व्यवहार है, परन्तु निश्चयस्वभाव के भान रहित व्यवहार वास्तव में व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहार से व्यवहार है। यदि त्रिकालस्वभाव की प्रतीति प्रगट करके उस व्यवहार का निषेध करे तो, जिसका निषेध किया उसे निश्चय पूर्वक का व्यवहार कहा जाता है, और स्वभाव के भान पूर्वक उसे जाने तो वह ज्ञान मे व्यवहारनय है; परन्तु राग को ही आदरणीय माने अथवा अकेले राग के लक्ष से ही उसे जाने तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है, उसे व्यवहार भी नहीं कहा जाता।

(१५३) भगवान होने की रीति

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, दया-भक्ति इत्यादि शुभ परिणाम तथा द्रव्य-गुण-पर्याय की या नवतत्व की भेद

से श्रद्धा—वह सब व्यवहार है, और उसकी ओर ढलने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान है। वह व्यवहार और उस ओर ढलने-वाला ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, एकरूप ज्ञायकस्वभाव है वह मैं हूँ—इस प्रकार मति–श्रुतज्ञान को स्वभाव में ढाल-कर व्यवहार से पृथक् हो और स्वभाव में एकता करे तब प्रमाणज्ञान होता है और उस जीव के मति–श्रुतज्ञान वह सम्यग्ज्ञान है। यह मति–श्रुत ज्ञान भी अतीन्द्रिय है, वह केवलज्ञान का कारण है। यह आत्मा स्वयं भगवान कैसे होता है? उसकी यह रीति है।

(१५४) वस्तुस्वभाव वाणी या विकल्पगम्य नहीं है परन्तु ज्ञानगम्य है

जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा ज्ञान में जानने में देर नहीं लगती, परन्तु विकल्प से जानने में या वाणी द्वारा कहने मे देर लगती है। वाणी से कहने में जितनी देर लगती है उतनी देर ज्ञान से समझने मे नहीं लगती, क्योंकि वस्तुस्वभाव वाणी या विकल्पगम्य नहीं है परन्तु ज्ञान-गम्य है। जिस प्रकार लड्डू तैयार करने में देर लगती है, परन्तु लड्डू का स्वाद लेने मे देर नहीं लगती। उसी प्रकार पहले विकल्प से चैतन्यस्वभाव समझने में देर लगती है, परन्तु स्वभावोन्मुख होकर, विकल्प तोड़कर श्रुतज्ञान से अनु-भव करे तो उसमें देर नहीं लगती। इसलिए वाणी और विकल्प का लक्ष–आश्रय छोड़कर मति–श्रुतज्ञान को स्वभाव-सन्मुख करना वह आत्मा के अनुभव का उपाय है, और

वही धर्म है। त्रिकाल चैतन्यस्वभाव है वह आत्मा है; मति-श्रुतज्ञान जितना आत्मा नहीं है-ऐसा समझकर पर्याय-दृष्टि छोडकर अंतरस्वभाव मे जो मति श्रुतज्ञान ढले उस ज्ञान को यहाँ आत्मा कहा है, क्योंकि वह ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होता है। स्वभावोन्मुख होने से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता प्रति समय बढती जाती है, उसका वर्णन इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे है।

शब्द ज्ञान नहीं है, स्पर्श ज्ञान नहीं है, इस प्रकार पांच इन्द्रियों के जो विषय हैं वे ज्ञान नहीं हैं, और उन शब्दादि विषयों के अवलम्बन से जो ज्ञान होता है वह आत्मा नहीं किन्तु अचेतन है अर्थात् पर लक्ष से होने वाला जो मतिज्ञान है वह मिथ्याज्ञान है-इस प्रकार मतिज्ञान की बात की है। अब, श्रुतज्ञान सम्बन्धी बात करते हैं।

❀ कर्म से ज्ञान का भिन्नत्व ❀

'कर्म ज्ञान नहीं है; क्यों कि कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान का और कर्म का व्यतिरेक है।' कर्म सूक्ष्म पदार्थ है वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, इससे इद्रिय-मतिज्ञान से वह ज्ञात नहीं होता, परन्तु मन द्वारा होने वाले मति पूर्वक श्रुतज्ञान से वह ज्ञात होता है।

(१५५) ज्ञान किसे कहा जाये?

वे कर्म तो अचेतन हैं, उन मे ज्ञान नहीं है, और उन अचेतन कर्मों के लक्ष से जो ज्ञान होता है वह भी

यथार्थ ज्ञान नहीं है। यहाँ आचार्यभगवान ऐसा समझाते हैं कि शब्द, रूप तथा कर्म आदि पर पदार्थों के लक्ष से ज्ञान का जो विकास होता है अथवा मन्द कषाय होती है वे दोनों आत्मा नहीं हैं–ज्ञान नहीं हैं किन्तु अचेतन हैं, उनसे धर्म नहीं होता। त्रिकाल आत्मस्वभाव के साथ एकता करके जो ज्ञानअवस्था प्रगट हो वही सच्चा ज्ञान है, उससे धर्म होता है।

आत्मा में क्रोधादि विकार होता है; वे क्रोधादि आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, इससे उन भावों में कोई अन्य पदार्थ निमित्तरूप होता है, वह पदार्थ कर्म है,–इसप्रकार युक्ति से और आगम के कथन से श्रुतज्ञान द्वारा कर्मों को मानना चाहिए। जो कर्मादि का अस्तित्व ही नहीं मानते उन जीवों की यहाँ बात नहीं है; लेकिन यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का आश्रय छोड़कर जो ज्ञान कर्म को जानने में रुके वह अचेतन है। कर्म के लक्ष से जो कर्म को जानने का विकास हुआ वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। कर्म मुझे बाधक होते हैं–ऐसा जिसने माना है उसका कर्म को जानने वाला ज्ञान अचेतन है।

(१५६) कर्म का ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है, परन्तु आत्मस्वभाव का ज्ञान मोक्ष का कारण है

अज्ञानी कहते हैं कि पहले आत्मा का नहीं किन्तु कर्म का ज्ञान करना चाहिए। यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि, कर्म के ज्ञान पर धर्म का माप नहीं है। कर्म को जानने

से धर्म नहीं होता। मंद कषाय से कर्म के लक्ष से जो ज्ञान हो वह भी मिथ्या श्रुतज्ञान है, इससे अचेतन है। कर्म को तथा उसका कथन करने वाले केवली भगवान को, गुरु को और शास्त्र को माने वहाँ तक भी मिथ्याश्रुत है क्योंकि उस ज्ञान ने पर का आश्रय, किया है, उस ज्ञान ने स्वभाव मे एकता नहीं की है परन्तु राग मे और पर मे एकता की है। स्वभाव में एकता नहीं है, परन्तु विकार में एकता है इससे क्रमशः विकार बढ़कर वह ज्ञान अत्यंत हीन होकर निगोददशा होगी, परन्तु वह ज्ञान आत्मा में एकता करके केवलज्ञान की ओर नहीं ढलेगा। पूर्ण चैतन्यस्वभाव का आश्रय करके जो श्रुतज्ञान होता है वह आत्मा मे एकता करके, क्रमश. वृद्धि प्राप्त कर केवलज्ञान प्रगट करता है।

आठों प्रकार के कर्म अचेतन हैं, और उन अचेतन के लक्ष से होने वाला ज्ञान भी अचेतन है। आत्मा परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप है, उसके द्रव्य–गुण तो त्रिकाल एकरूप हैं, उस मे कर्म की अपेक्षा नहीं है; परन्तु वर्तमान पर्याय मे एक समय पर्यंत का विकार है, उस मे कर्म निमित्तरूप है, इससे विकार का और कर्म का एक समय पर्यंत का निमित्त–नैमित्तिक सम्बंध है। जिस प्रकार सोने के साथ हथौड़ी का संबंध नहीं है, हथौड़ा कहीं सोने को उत्पन्न करने मे निमित्त नहीं है, परन्तु सोने की अवस्था का घाट (आकार) होता है उस में वह निमित्तरूप है। निश्चय से तो उस आकार का कारण सोना ही है, परन्तु व्यवहार से उस आकार और हथौड़ी का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

इसी प्रकार आत्मा में त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं है परन्तु वर्तमान अवस्था के साथ ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है-ऐसा जानना चाहिए। परन्तु यदि कर्म का लक्ष रखकर ही ऐसा जाने तो सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता अर्थात् धर्म नहीं होता। त्रिकाली चैतन्यस्वभाव कर्म से और राग से भिन्न है, क्षणिक पर्याय जितना भी नहीं है-ऐसा जानकर उस स्वभाव के साथ एकता करने से जो ज्ञान हो वह सम्यग्ज्ञान है। वह ज्ञान कर्म को जानते समय अपने ज्ञानस्वभाव के साथ एकता रखकर जानता है इससे उस समय भी उसे शुद्धता की ही वृद्धि होती है;-इसका नाम धर्म है। ऐसा स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान ही इस आत्मा को मुक्ति का कारण है, उस ज्ञान से ही यह आत्मा स्वयं भगवान-परमात्मा होता है।

(१५७) विवेक

अहो, एक मक्खी भी मिश्री और फिटकरी के स्वाद का विवेक करके, फिटकरी को छोड़ती है और मिश्री का स्वाद लेने के लिए चोंटती है, तो फिर जिसे अपना कल्याण करना है ऐसे जीव को, अपना त्रिकाली स्वभाव क्या है और विकार क्या है—इसका बराबर विवेक करना चाहिये। त्रिकाली के लक्ष से शांति होती है और क्षणिक पर्याय के लक्ष से आकुलता होती है-इस प्रकार उन दोनों का भेद जानकर, यदि पर्याय से हटकर त्रिकाली स्वभाव की ओर श्रुत-ज्ञान उन्मुख हो तो स्वभाव के आनन्द का स्वाद आये, और

पश्चात् वह धर्मी जीव पर को जाने उस समय भी उसे सर्व सम्यग्ज्ञान ही है। पर को जानते समय भी स्वभाव के आश्रय से ज्ञान की एकता बढ़ती जाती है, क्योंकि उस समय भी स्वभाव की एकता छोड़कर ज्ञान नहीं जानता।

(१६०) निश्चय और व्यवहार का सच्चा ज्ञान कब होता है?

मति-श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करके द्रव्य में एकता करे वह निश्चय है, और स्वभाव की एकता पूर्वक सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति व्यवहार है। व्यवहार को जानने से जो ज्ञान व्यवहार में ही रुका रहे वह ज्ञान व्यवहार से पृथक् नहीं हुआ है, अर्थात् उस ने निश्चय और व्यवहार को पृथक् नहीं जाना है, इससे वहाँ व्यवहार भी सच्चा नहीं होता। ज्ञान व्यवहार को जानता अवश्य है, परन्तु व्यवहार-ज्ञान जितना आत्मा नहीं है-ऐसा समझकर व्यवहार से पृथक् होकर अखण्ड ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो तब श्रुतज्ञान प्रमाण होता है और तभी निश्चय-व्यवहार दोनों का सच्चा ज्ञान होता है।

जीव का जो श्रुतज्ञान सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को जाने उस श्रुतज्ञान जितना ही जो आत्मा को माने और उसी पर ध्यान रखा करे परन्तु त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की ओर न ढले तो वह श्रुतज्ञान मिथ्या है। उसे निश्चय और व्यवहार पृथक् नहीं रहे किन्तु क्षणिक को ही त्रिकालीरूप मान लिया, अर्थात् व्यवहार को ही निश्चय मान लिया, उसे निश्चय-

व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं है। त्रिकालीस्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान ऐसा स्वीकार करे कि—'इन देव-गुरु-शास्त्र से मैं पृथक् हूं और उन्हें जानने वाला जो क्षणिक ज्ञान है उतना भी मैं नहीं हूं'—तो वह सम्यग्ज्ञान है और उसे त्रिकाली स्वभाव का तथा वर्तमान पर्याय का यानी निश्चय-व्यवहार का सच्चा ज्ञान है।

(१६१) ज्ञान की क्रिया धर्म है

यह धर्म की बात है; इस में अकेले ज्ञान की क्रिया की बात है। आत्मा शरीरादि से तो भिन्न ही वस्तु है, इससे आत्मा के धर्म मे शरीर की क्रिया कारणरूप नही है, शरीर की क्रिया के साथ आत्मा के धर्म का या अधर्म का संबंध नहीं है, परन्तु ज्ञान की क्रिया में धर्म-अधर्म है। अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव को स्वीकार करके उस के आश्रय से ज्ञान की जो क्रिया होती है वह धर्म है। और स्वभाव को भूलकर क्षणिक ज्ञान जितना ही अपने को मानकर पर के आश्रय से ज्ञान की जो क्रिया होती है वह अधर्म है। अनादि से मति-श्रुतज्ञान पर के लक्ष से कार्य कर रहे हैं—इससे संसारपरिभ्रमण है, उस ज्ञान को चेतनस्वभाव के लक्ष से स्वभावोन्मुख करना वह अपूर्व धर्म है, और वह मुक्ति का कारण है।

ऊपर २३४ वे कलश में कहा था कि—पर पदार्थों को जानने से उन के साथ एकत्व की मान्यता से अनेक प्रकार की विकारी क्रिया उत्पन्न होती थी वह अधर्म था। अथवा

पर को जानने जितना ही मेरा ज्ञान है—ऐसा मानना भी पर में एकत्वबुद्धि ही है और वह अधर्म है। यहाँ से अब (इन पन्द्रह गाथाओं द्वारा कहा उस प्रकार) समस्त वस्तुओं से भिन्न किया गया ज्ञान—अर्थात् समस्त पर द्रव्यों से भिन्न चेतनस्वभाव को जानकर उस स्वभाव मे ढला हुआ ज्ञान-अनेक प्रकार की अधर्मक्रियाओं से रहित है और एक ज्ञानक्रिया मात्र है, अनाकुल है और दैदीप्यमान वर्तता हुआ स्वभाव में लीन रहता है—यही धर्म है। अभी तक जो अनंत जीव ससार से पार होकर सिद्ध हुए हैं वे सब ऐसी स्वसन्मुख ज्ञानक्रिया के प्रताप से ही पार हुए हैं; वर्तमान मे जो जीव पार हो रहे हैं वे इस क्रिया के प्रताप से ही पार हो रहे हैं और भविष्य मे जो जीव पार होंगे वे भी इसी ज्ञानक्रिया के प्रताप से ही पार होंगे।

(१६२) ज्ञान और कर्म का भेदज्ञान

कर्म और ज्ञान भिन्न हैं। ज्ञान आत्मा के साथ एकमेक है और कर्म से पृथक् है, वास्तव में कर्म और कर्म की ओर ढलता हुआ ज्ञान—वे दोनों आत्मा से पृथक् हैं और आत्मा की ओर ढलता हुआ ज्ञान भी उन दोनों से पृथक् । इस प्रकार कर्म और उस ओर ढलते हुए ज्ञान—दोनों से पृथक् होकर स्वभाव को जाने तो ज्ञान और कर्म का भेदज्ञान हो। ऐसे भेदज्ञानपूर्वक कर्म को जाना वह ज्ञान सच्चा कहलाता है, नहीं तो कर्म का ज्ञान भी सच्चा नहीं कहलाता।

(१६३) अंतरमंथन करने योग्य अद्भुत रहस्य

निश्चय और व्यवहार भिन्न हैं, इससे निश्चय की ओर ढलता हुआ ज्ञान व्यवहार की ओर ढलते हुए ज्ञान से पृथक् है। निश्चय और व्यवहार दोनों का ज्ञान साधक जीव को होता है, परन्तु स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण निश्चयनय बढ़ता जाता है और व्यवहार नय दूर होता जाता है—अर्थात् स्वभाव की एकता की ओर ज्ञान की सन्मुखता बढती जाती है और पर की ओर की ज्ञान की सन्मुखता दूर होती जाती है। इस प्रकार क्रमशः स्वभाव में सम्पूर्ण एकता होने से व्यवहार सम्पूर्ण दूर हो जाता है और केवलज्ञान होता है। स्वभावोन्मुख ज्ञान ही आत्मा है, वही ज्ञान सम्यक्त्व है, वही चारित्र है, वही सुख है। ज्ञान आत्मा में अभेद होने से द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं रहा इससे वह ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है। अहो! आचार्य-भगवान ने आत्मा के अंतरस्वभाव का रहस्य बतलाया है। इस रहस्य को समझकर अंतरमंथन करने योग्य है। मात्र ऊपर ऊपर से सुन ही नहीं लेना चाहिए, परन्तु बराबर धारण करके, अन्तर मे स्वयं विचार कर निर्णय करना चाहिए।

(१६४) जिज्ञासुओं का महाभाग्य!

पर की ओर के श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करना इन गाथाओं का प्रयोजन है। आचार्यदेव क्रमशः सूक्ष्म बात लेते जाते हैं। प्रथम शब्दादि पदार्थों से ज्ञान को भिन्न बतलाया है, फिर कर्म से भिन्न बतलाया है, इस प्रकार रूपी पदार्थों की बात पूर्ण हुई।

अब, चार अरूपी द्रव्य हैं-उनसे ज्ञान का पृथक्त्व बतलाते हैं। पश्चात् अंतर में जो सूक्ष्म अध्यवसान के भाव होते हैं उनसे भी पृथक् बतलायेंगे। इस प्रकार सब से भिन्न बतलाकर अन्त में 'ज्ञान और आत्मा एकमेक है, उनमें किंचित् पृथक्त्व की शंका नहीं करना चाहिए'-ऐसा बतालकर अपूर्व स्वभाव की बात करेंगे। जिज्ञासु जीवों के महाभाग्य से यह अपूर्व बात आई है। यह बात जो समझेगा उसका अविनाशी कल्याण हो जायेगा।

धर्म द्रव्य से ज्ञान का भिन्नत्व

धर्म द्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म द्रव्य अचेतन है; इसलिए ज्ञान और धर्म द्रव्य भिन्न हैं।

(१६५) मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान कैसे होता है?

इस जगत में सम्पूर्ण लोक-व्यापक एक धर्मास्तिकाय नाम का अरूपी द्रव्य सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष देखा है, और शास्त्रों में उसका वर्णन है, उस धर्म द्रव्य को जो जीव स्वीकार न करे वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है, उसे तो देव-शास्त्र-गुरु की भी श्रद्धा नहीं है, और जो जीव धर्म द्रव्य के लक्ष से ही उसका ज्ञान करे वह जीव अगृहीत मिथ्यादृष्टि है। आत्मा पूर्ण चैतन्यमय है, और धर्म द्रव्य तो अचेतन है, उसमें किंचित् ज्ञान नहीं है। उस अचेतन के आश्रय से जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को भी यहाँ अचे-

तन सिद्ध किया है; क्योंकि वह ज्ञान चैतन्य के विकास को रोकने वाला है। स्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान प्रगट हो वह चेतन स्वभाव में मिलता है इससे चेतन है, और वह केवलज्ञान का कारण है। आत्मस्वभाव के ओर की उन्मुखता करने वाला ज्ञान और धर्मास्तिकाय आदि परोन्मुखता वाला ज्ञान-दोनों पृथक् हैं। स्वभाव की ओर का ज्ञान तो मोक्ष का साधक है और पर की ओर का ज्ञान रागवाला होने से बाधक है, इससे वह अचेतन है। त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होकर चैतन्य में एकत्व करने वाला ज्ञान चैतन्यरूप है और मोक्षार्थी जीवों को यही करना है। अनादि का मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यक् मति-श्रुतज्ञान कैसे प्रगट होता है उसकी यह रीति है। इसमें निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण भी आजाता है। निश्चय के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है और पर्याय के आश्रय से, राग के आश्रय से अथवा पर द्रव्य के आश्रय से तो मिथ्याज्ञान ही बना रहता है।

अनादि से जीव के मति-श्रुतज्ञान होता है और उस ज्ञान से इन्द्रिय द्वारा पुद्गल के शब्द-रूपादि का ही ग्रहण होता है, इससे प्रथम उसकी बात की है। और फिर शास्त्र या गुरु के निमित्त से कर्म, तथा धर्म द्रव्य आदि को जानता है, इससे उसकी बात की है। सर्वज्ञदेव के मार्ग के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर इस धर्म-अधर्म द्रव्य की बात नहीं होती। इस समय धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का अधिकार नहीं चल रहा है इससे उन द्रव्यों की सिद्धि इस

चालू विषय मे नहीं की जा रही है। इस समय तो, जो जीव सच्चे देव गुरु-शास्त्र को तथा छह द्रव्यों को स्वीकार करता है, परन्तु अभी पराश्रय में रुका हुआ है-वैसे जीव को मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यक् मति-श्रुतज्ञान कैसे प्रगट होता है उसका यह वर्णन है। गृहीत मिथ्यात्व दूर करने के पश्चात् अगृहीत मिथ्यात्व कैसे दूर हो उसकी यह बात है।

❀ अधर्म द्रव्य से ज्ञान का भिन्नत्व ❀

(१६६) धर्म द्रव्य की भांति अधर्म द्रव्य भी इस लोक में सर्वत्र व्यापक है, अरूपी है। जीव या पुद्गल स्वयं गति करते हों उस समय धर्म द्रव्य निमित्तरूप है और गति करने के पश्चात् स्थिर हों उस समय अधर्म द्रव्य निमित्त-रूप है। यह अधर्म द्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म द्रव्य अचेतन है; इससे ज्ञान और अधर्म द्रव्य भिन्न हैं। ऊपर धर्मास्तिकाय द्रव्य की भाति यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

★ काल द्रव्य से ज्ञान का भिन्नत्व ★

काल द्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल द्रव्य अचेतन है; इसलिये ज्ञान और काल भिन्न हैं। समस्त लोक में एक एक प्रदेश मे एक एक कालाणु द्रव्य स्थित है, यह काल द्रव्य अरूपी और स्वतंत्र अचेतन पदार्थ है। पदार्थों के परिणमन में यह निमित्त है।

(१६७) ज्ञान और काल का भेदज्ञान किसे होता है?

ऐसे काल द्रव्य को जो दुराग्रह से स्वीकार ही नहीं करते वे तो अज्ञानी हैं ही; परन्तु जो कालद्रव्य को दुराग्रह से स्वतंत्र नहीं मानते और उपचरित मानते हैं वे भी गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं; उन्हें ज्ञान और काल का भेदविज्ञान नहीं होता; वास्तव मे उन्होंने स्वकाल का पुरुषार्थ ही स्वीकार नहीं किया है। अपने आत्मा की निर्मल परिणति स्वकाल है, उस स्वकाल में निमित्तरूप एक पर काल (काल द्रव्य) है। जिसने आत्मा में स्वकाल का पुरुषार्थ देखा हो उस जीव को निमित्तरूप स्वतंत्र काल द्रव्य का स्वीकार भी होता ही है। परन्तु कोई जीव मात्र काल द्रव्य की उन्मुखता में ही रुका रहे और अपने सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान न करे तो वह अज्ञानी है; उस का कालद्रव्य का ज्ञान वास्तव में आत्मा नहीं है परन्तु अचेतन है, उसे ज्ञान और काल का भेदविज्ञान नहीं है।

(१६८) स्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान, और काल के आश्रय से मिथ्याज्ञान

'काल पके तब मुक्ति होती है'-ऐसा जो माने उस के ज्ञान की उन्मुखता अपने स्वभाव की ओर नहीं है, परन्तु काल द्रव्य की ओर है; इससे उस का ज्ञान मिथ्या है। उस ने ज्ञानस्वभाव का आश्रय नहीं किया परन्तु काल द्रव्य का आश्रय लिया है-अर्थात् काल और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं

किया, परन्तु काल द्रव्य के साथ एकत्वबुद्धि की है, वह मिथ्यात्व है।

'काल पके'–इस का अर्थ क्या ? काल द्रव्य में तो तीनों-काल एक समान अवस्था होती रहती है। जीव स्वयं काल की ओर का लक्ष छोड़कर स्वभावोन्मुख हुआ, इससे शुद्धदशा प्रगट हुई–वही स्वकाल पका है। काल द्रव्य की ओर का विचार करने मे ही जो ज्ञान रुके वह आत्मा नहीं है। पर की ओर के लक्ष से जो मति–श्रुतज्ञान होते हैं वह मिथ्या-ज्ञान है। वर्तमान ज्ञान किस के आधार से होता है ? कहीं काल द्रव्य के आधार से नहीं होता, परन्तु त्रिकाली ज्ञानस्वभाव के आधार से होता है; जो वर्तमान ज्ञान, त्रिकाली स्वभाव का विश्वास न करे वह ज्ञान अचेतन है–जड़ है। प्रति समय आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है, उस की श्रद्धा–ज्ञान करके उसके आश्रय से जो ज्ञान हो वह सम्यग्ज्ञान है।

इस जगत मे काल द्रव्य है और उसे व्यवहार से ज्ञान जानता है। परन्तु काल द्रव्य के ज्ञान को सच्चा व्यवहार कब कहा जाता है ? त्रिकाली ज्ञानस्वभाव मे ढलकर सम्यक् मति–श्रुतज्ञान प्रगट करे तो कालद्रव्य के ज्ञान को व्यवहार कहा जाता है। ऐसा त्रिकाली ज्ञानस्वभाव समझे बिना व्रत या महाव्रत नहीं होते। आत्मा का ज्ञानस्वभाव कैसे प्रगट होता है ? इसे समझे बिना धर्म नहीं होता। जीव, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल–यह छह द्रव्य हैं, उन्हें कहने वाले देव–शास्त्र-गुरु हैं, उन्हें स्वीकार करे वहाँतक भी मिथ्याज्ञान है।

(१६९) ज्ञानी को स्वाश्रय से मुक्ति का विश्वास

'पुरुषार्थ के विना काललब्धि से मुक्ति होती है, अथवा कर्म की स्थिति घटे तब सम्यक्त्व होता है, अथवा अर्द्ध-पुद्गलपरावर्तन के अन्दर का संसार रहे तब सम्यक्त्व होता है'-इस प्रकार पराश्रय से मानने वाला जीव अपने स्वभाव में नहीं ढला है। उसका ज्ञान मिथ्या है। उसे सच्चा व्यवहार भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव की ओर ढलने से ऐसा जानता है कि मुझे अब अल्प संसार है, एक-दो भव में अब संसार पूर्ण होना है और मुक्ति मिलना है; और भगवान ने भी सम्यग्दृष्टि को अर्द्धपुद्गल-परावर्तन के अन्दर संसार कहा है। इस प्रकार अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर स्वभाव की प्रतीति पूर्वक शास्त्रों के कथनों को समझता है। 'भगवान ने शास्त्र में कहा है इसलिए मुझे संसार नहीं है'—इस प्रकार पराश्रय से न लेकर, 'मैं अपने स्वभाव में ढला हूँ इसलिए मुझे अब संसार नहीं है'-ऐसा स्वाश्रय से ज्ञानी को निःशंक विश्वास होता है।

(१७०) गृहस्थ का छोटे से छोटा अपूर्व धर्म

सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् कोई उत्कृष्टरूप से अर्द्धपुद्गलपरावर्तन तक संसार मे परिभ्रमण करता है-ऐसा शास्त्र में कहा है, इससे कोई ऐसा माने कि मुझे भी सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार में भ्रमण करना रहा होगा ?' तो ऐसा मानने वाला

जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे अपने आत्मा की श्रद्धा ही नहीं है। अर्द्धपुद्गलपरावर्तन में तो अनंत भव हो जाते हैं। जो अपने स्वभाव में ढला हो उसे अनंत भव होने की शंका नहीं होती, और उसे अनंत भव होते ही नहीं। शास्त्र में तो सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् कोई जीव च्युत हो जाय तो उसे अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक काल तक संसार होता ही नहीं—ऐसा बतलाकर सम्यक्त्व का महात्म्य किया है। शास्त्र के शब्द और वाणी तो पुद्गल है, काल द्रव्य जड है, उसके लक्ष से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। चैतन्यस्वभाव मे ढलने से काल और कर्म—सबका लक्ष छूट गया और स्वभाव में एकता करनेवाला सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ। राग से छूटकर ज्ञान अपने स्वभाव में लीन हुआ, रागरहित परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान हुआ—यही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ का पहले से पहला और छोटे से छोटा प्रारंभिक अपूर्व धर्म है।

卐 वीर सं. २४७४ भाद्रपद शुक्ला २ रविवार 卐

✶ श्री श्रुत देवता जयवंत हो ! ☆

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव को नमस्कार हो !

※ श्री गुजराती प्रवचनसार परमागम-प्रकाशन दिनः ※

(१७१) प्रवचनसार का गुजराती अनुवाद और उस के अनुवादक

आज यह प्रवचनसार दो हजार वर्ष के पश्चात् गुजराती भाषा मे प्रकाशित हो रहा है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार-प्रवचनसार-नियमसार इत्यादि महान शास्त्रों की रचना करके इस भरत-क्षेत्र में श्रुत की अपूर्व प्रतिष्ठा की थी, उसके पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष बाद श्री अमृतचंद्राचार्यदेव हुए, उन्होंने समयसार, प्रवचनसारादि शास्त्रों की संस्कृत टीका की रचना करके उसके गम्भीर भावों को खोला। उसके पश्चात् आज से

आये। प्रथम, स्वयं मुनिदशा में तो थे ही, और महावीर स्वामी की परंपरा से प्राप्त हुआ ज्ञान भी था; परन्तु सीमंधर भगवान के पास जाने से उनके ज्ञान की निर्मलता अत्यंत बढ़ गई, और श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसारादि शास्त्रों की रचना करके उन्होंने इस भरतक्षेत्र में श्रुतज्ञान की महा प्रतिष्ठा की। वह श्रुत इस समय अधिकांश प्रगट होता जा रहा है, और वर्तमान में जीवों को भी वैसे भाग्य का योग है। चंद्रगिरि पर्वत के शिलालेख मे लिखा है कि 'जिन पवित्र आत्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुंदकुंद इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?'

(१७५) मोक्ष के भाजन

साक्षात् तीर्थंकर भगवान अपनी दिव्यध्वनि से जो कहते हों उसमें, और इस प्रवचनसार मे श्री कुंदकुंदाचार्यदेव जो कुछ कहते हैं उसमे किंचित् अन्तर नहीं है, जो उसमें अन्तर माने वह मिथ्यादृष्टि है। जिसके आत्मा मे पात्रता न हो उसे यह बात नहीं जमती, और जो पात्र आत्मा होंगे उन्हें अवश्य यह बात रुचेगी। जिन्हें यह बात रुचेगी वे अल्पकाल में मोक्ष के भाजन हैं, और वे जीव अल्पकाल में अपनी परमात्मदशा को वरेंगे—इसमे कोई सन्देह नहीं है। इस समय यह जो समयसार—प्रवचनसारादि का महान योग बना है वह अमुक आत्माओं के अपूर्व संस्कार और पात्रता को बतलाता है।

(१७६) प्रवचनसार के अनुवाद की अपूर्वता

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव के समयसार–प्रवचनसारादि परमागम की प्रभावना इस समय खूब हो रही है। वि० सं० १९९७ में समयसार गुजराती भाषा में प्रसिद्ध हुआ और उसकी दो हजार प्रतियां थोडे ही समय में खप गई। उसका गुजराती अनुवाद भी श्री हिंमतभाई ने किया था, उसमें तो पंडित जयचंद्रजी के हिन्दी अनुवाद का कुछ आधार था; परन्तु इस प्रवचनसार का गुजराती अनुवाद तो मूल गाथा-टीका पर से बिल्कुल नया ही करना था, इससे इसमें भारी परिश्रम हुआ है। उन्होंने भारी बुद्धि और परिश्रम से यह कार्य समाप्त किया है। मूल गाथा और टीका के पूरे भावों को संभाल रखकर अक्षरश अनुवाद किया है। आवश्यकतानुसार भावार्थ और फुटनोट लिखकर अत्यन्त स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त मूल गाथा का गुजराती हरिगीत भी बहुत सुंदर किया है। यह प्रवचनसार अपूर्व वस्तु है, अभी तक देशभाषा मे अक्षरश. अनुवादकर्ता कोई नहीं निकला, और यह ग्रन्थ यहाँ से तैयार हुआ है, वह किसी अपूर्व प्रभावशाली योग से बना है।

(१७७) प्रवचनसार के रचयिता और उनकी महिमा

प्रवचन अर्थात् वीतरागदेव की दिव्यध्वनि का सार। इस प्रवचनसार में चारित्र की मुख्यता से वर्णन है। जिस प्रकार शरीर की शोभा में तिलक है, उसी प्रकार आत्मा की मुक्ति के मार्ग पर चलने वाले साधक जीवों को यह प्रवचनसार तिलक के समान है।

प्रवचनसार के प्रारम्भ में ही श्री कुन्दकुंदाचार्य भगवान कहते हैं कि—'मैं, जिससे मुक्ति प्राप्त हो ऐसे साम्यभावरूप चारित्र को अंगीकार करता हूँ। आत्मा के परम उपशम-रस को धारण करता हूँ। अहो, आचार्यदेव का यह कथन तो अक्षरशः सत्य है। स्वयं को वैसी चारित्रदशा वर्त रही थी उस समय यह शास्त्र लिखा गया है। इस शास्त्र में मुख्यतया दर्शन–ज्ञान पूर्वक के चारित्र का वर्णन है। कथन में ज्ञानप्रधानता है। एकदम आत्मस्वरूप के अनुभव की लीनता होने पर तीन कषायों के नष्ट होने से चारित्रदशा प्रगट होती है—उसकी इसमे बात है। और ऐसी चारित्रदशा में झूलते हुए महामुनि का यह कथन है। इस परमागम के भावों का रुचि पूर्वक स्वीकार करने मे अनंत तीर्थंकर–सर्वज्ञ–संतो और ज्ञानियों की स्वीकृति आजाती है और इसके एक अक्षर की भी अस्वीकृति, अनंत तीर्थंकरों–सर्वज्ञों-संतो और ज्ञानियों की अस्वीकृति करने जैसी है। इसका स्वीकार करने वाला कौन है ? जिसे अपने भावों मे भलीभांति जम गया है, वही 'हाँ' कहता है। इस कथन का स्वीकार करना,—ऐसा कहना व्यवहार मे विनय से है, परन्तु वास्तव में तो इसका स्वीकार करने वाले ने इसके वाच्यभूत अपने ज्ञान और सुख से परिपूर्ण स्वभाव की ही 'हाँ' कह कर उसका आदर किया है। वह जीव अल्पकाल में पूर्ण ज्ञान और सुखमय दशा को प्राप्त करता है।

(१७८) अरिहंत भगवान को जो विहारादि क्रियाएँ है वह क्षायिकी क्रिया है

इस शास्त्र की ४५ वीं गाथा मे 'केवली भगवान कैसे

होते हैं' वह बात आचार्यदेव कहते हैं। केवली भगवान के आहारादि तो होता नही है, परन्तु योग के कंपन के निमित्त से विहार, आसन, स्थान और दिव्यध्वनि बिना इच्छा के होते हैं। यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि अरिहंतों को वह योग का कम्पन या विहारादि बंध का कारण नहीं है, परन्तु मुक्ति का कारण है। योग का परिणमन प्रति समय क्षायिक भाव में मिलता जाता है। योग के कंपन के निमित्त से कर्मबंधन तो नहीं होता किन्तु अल्प क्षायिक भाव बढ़ता जाता है। योग का कंपन होने पर भी मोह के अभाव के कारण पारिणामिक भाव में और क्षायिक भाव में ही वृद्धि होती जाती है, इसलिए योग का कंपन और विहारादि क्रियाएँ औदयिक क्रिया नहीं परन्तु क्षायिकी क्रिया है। अहो, इसमें अंतर्दृष्टि की अपूर्व बात है, केवलज्ञानी की वाणी का रहस्य है। योग का कंपन केवली भगवान के निर्मलता की ही वृद्धि करता रहता है,-यह बात पर्याय-बुद्धि वाला जीव नहीं समझ सकता अध्यात्मदृष्टि-अंत र्दृष्टि वाला कोई जीव समझता है, दूसरों को उसमें मेल नहीं बैठता। और जो यह बात समझ ले उसे क्षायिक भाव प्रगट हुए बिना न रहे।

'अरिहंत भगवान को योग का कंपन, विहार, दिव्य-ध्वनि इत्यादि होते हैं, वह बंध का कारण नहीं है, परन्तु मुक्ति का कारण है-इससे वह क्षायिकी क्रिया है।' इस प्रकार अरिहंत भगवान को बात ४५ वीं गाथा में चलती थी और भावार्थ बाकी था, वहीं बीच में बराबर यह प्रवचनसार

की प्रभावना का प्रसंग बना है। तीर्थंकरों के उपदेश की और विहार की बात चलती थी वहाँ इस प्रवचनसार की प्रभावना का उदय हुआ है- यह बात भी कुछ योग की सूचना देती है।

(१७९) प्रवचनसार के अभ्यास का फल

जो जीव कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के इन समयसार–प्रवचनसार इत्यादि परमागम शास्त्रों का सद्गुरुगम से महिमा लाकर, स्वच्छंदता को छोड़कर आत्महित की बुद्धि से और–'इस में अपूर्व स्वभाव की बात है'–इस प्रकार स्वभाव के लक्ष से निरंतर अभ्यास करेगा वह अल्पकाल में परमपद को प्राप्त करेगा और स्वयं ही अतीन्द्रियज्ञान और आनंदरूप हो जायेगा।

× × ×

(यहाँ तक श्री प्रवचनसार संबंधी व्याख्यान हुआ। अब, चालू अधिकार–समयसार गा० ३९० से ४०४ पर का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।)

आकाश और ज्ञान का भिन्नत्व

आकाश ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है इसलिए ज्ञान और आकाश का भिन्नत्व है। समस्त द्रव्यों से ज्ञान को पृथक् बतलाते बतलाते अब, अंतिम आकाश द्रव्य की बात आयी है। प्रदेश की अपेक्षा से आकाश सब

से बड़ा द्रव्य है। आकाश अनन्तप्रदेशी अरूपी है, वह इन्द्रियज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होता, परन्तु श्रुतज्ञान का विषय है।

(१८०) जो ज्ञान स्वभाव को स्वीकार नहीं करता वह अधर्म है और स्वीकार करे वह धर्म है।

आकाश और ज्ञान भिन्न हैं—ऐसा समझने से अपना ज्ञान आकाश की ओर न जाकर अपने स्वभाव की ओर आता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उस की वर्तमान पर्याय प्रत्येक समय होती है, वह ज्ञानपर्याय कहीं बाह्य में अपनत्व मानकर रुकती हो-उसे स्वभावोन्मुख करना वह धर्म है। जो ज्ञान बाह्य की (आकाशादि पदार्थों की) बात को स्वीकार करता हो परन्तु स्वभाव को स्वीकार न करता हो वह अज्ञान है-अधर्म है, और जो ज्ञान अंतरस्वभाव को स्वीकार करके उस में एकाग्र हो वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग है, वह धर्म है।

(१८१) साधक जीव को सम्यक्मति-श्रुतज्ञान मोक्ष का कारण है

प्रत्येक आत्मा शरीर से भिन्न, त्रिकालस्थायी ज्ञानस्वभावी है, उस के ज्ञान की अवस्था में पाँच प्रकार होते हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। उन में से किस ज्ञान से धर्म होता है? अथवा कौन-सा ज्ञान मोक्ष का कारण होता है? केवलज्ञान तो साधक जीव को होता नहीं है, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान पर को ही जानते हैं, इससे वे वास्तव मे मोक्ष के कारण नहीं हैं। अब, मति और

श्रुतज्ञान प्रत्येक छद्मस्थ जीव के होते हैं, वे मति-श्रुतज्ञान आत्मा को छोडकर पर को जानने में रुकें तो वह अधर्म है। पर को जानने में रुकता है उस मति-श्रुतज्ञान को आत्मा का स्वरूप माने तो अज्ञान है-कुमति-कुश्रुत है। और वह ज्ञान पर का लक्ष छोड़कर अपने त्रिकाल आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उस के अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा करे तो वह सम्यग्ज्ञान होता है, यह सम्यक्मति-श्रुतज्ञान धर्म है और वह मोक्ष का कारण है।

(१८२) धर्म का अपूर्व प्रारम्भ

जो ज्ञान शब्दादि को जाने उतना ही मैं नहीं हूँ, मैं अतर मे परिपूर्ण स्वभाव हूँ-इस प्रकार अन्तरसन्मुख होकर अवग्रह करे अर्थात् ज्ञान में स्वभाव का ग्रहण करे, ज्ञान को स्वभावसन्मुख करे-वह आत्मोन्मुख मतिज्ञान की छोटी से छोटी प्रथम अवस्था है, और वही धर्म का अपूर्व प्रारम्भ है।

(१८३) अपूर्व वस्तु-आत्मा को समझ लेना

देखो भाई! आत्मस्वभाव को समझ लेना ही अपूर्व वस्तु है। अनतकाल मे सब कुछ किया है परन्तु अपना आत्म-स्वभाव क्या है वह नहीं समझा। इस जीवन मे यही करने योग्य है, इस के बिना जीवन मे जो कुछ करे वह सब व्यर्थ है-आत्मा को ससार का कारण है। अनतकाल से आत्मा को नहीं समझा है, इससे उस के लिए अपार रुचि होना चाहिए। रुचि के बिना पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता।

(१८४) रुचिपूर्वक प्रयत्न करे तो अल्पकाल में आत्मा समझ में आ जाये

आत्मा सूक्ष्म-अरूपी वस्तु है। उसका द्रव्य सूक्ष्म, उसके गुण सूक्ष्म और उसकी पर्यायें भी सूक्ष्म हैं, और सूक्ष्म की समझ भी सूक्ष्म ही होती है—उसमें कुछ नवीनता नहीं है। इसलिए रुचिपूर्वक अपने ज्ञान को सूक्ष्म और स्थिर करके अभ्यास करना चाहिए। आत्मा सूक्ष्म है इसलिए उस को समझने में भारी पुरुषार्थ की आवश्यक्ता है-इस प्रकार पुरुषार्थ की उग्रता कराने के लिए सूक्ष्म कहा है। परन्तु 'आत्मा तो सूक्ष्म है इसलिए अपनी समझ में नहीं आयेगा'-ऐसा नहीं मानना है। जिन्हे आत्मा की रुचि हो उन प्रत्येक जीवों को आत्मा समझ में आने योग्य है। 'यह सूक्ष्म है'-ऐसा कहकर उसे समझने का प्रयत्न ही छोड़ देना-वह तो आत्मा की अरुचि और अनन्त संसार में परिभ्रमण का कारण है। जहाँ अपनी रुचि हो वहाँ बारम्बार प्रयत्न करने से थकता नहीं है। सूक्ष्म मेरा स्वभाव और सूक्ष्म उसका ज्ञान-इस प्रकार स्वभाव की महिमा लाकर रुचि से बारम्बार प्रयत्न करे तो अल्पकाल में स्वभाव समझ में आ जाये, और जन्ममरण के दुःखों से छूट जाये। अपना स्वभाव समझे बिना अन्य कोई दुःखों से मुक्त होने का उपाय नहीं है।

(१८५) धर्म करने वाले जीव के अंतर में होने वाली ज्ञानक्रिया

देहादि की क्रियाएँ अथवा पूजा-व्रत-दानादि के भाव

ज्ञान का स्वरूप नहीं है, और उस विकार के लक्ष जितना ही ज्ञानस्वभाव को माने तो वह भी मिथ्यात्व है–अज्ञान है–अव्रत है, ज्ञानस्वरूप की हिंसा का पाप है। जड़ की क्रिया, विकारभाव अथवा उस ओर का क्षणिक ज्ञान—इन सबसे भिन्न अन्तर मे अपना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है उस ओर ज्ञान उन्मुख हो, तब सम्यक् मतिज्ञान के प्रारम्भ का अवग्रह हुआ, वहाँ से धर्म का प्रारम्भ है। पर की ओर जाते हुए मतिज्ञान को रोककर स्वभावोन्मुख करे वहाँ प्रथम तो स्वभाव के ग्रहणरूप अवग्रह होता है, फिर स्वभाव की विचारणारूप ईहा होती है, पश्चात् वही ज्ञानउपयोग स्वभाव की ओर विशेष बढ़ने पर स्वभाव का ऐसा निश्चय होता है कि वह बदल नहीं सकता–इसका नाम अवाय है। और फिर कालान्तर में विस्मरण न हो ऐसी स्वभाव की धारणा होती है।–ऐसी अतरस्वभाव की ज्ञानक्रिया ही धर्म की क्रिया है। बाह्य मे किसी पुण्य से, पैसे मे या शरीर की क्रियाओं मे कहीं भी धर्म नहीं है। प्रथम तो सत्समागम से आत्मा की रुचिपूर्वक आत्मस्वभाव जैसा है वैसा ध्यान में लेना चाहिए, तत्पश्चात अपने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को पर की ओर उन्मुख न करके ज्ञानस्वभाव मे ढालकर वहीं एकाग्र करना सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का मार्ग है।

(१८६) बहिरात्मा, अतरात्मा और परमात्मा

बहिरात्मा जीव अपने ज्ञान में सयोगों को–निमित्तों को और विकल्पों को स्वीकार करता है, परन्तु अपने त्रिकाली ज्ञान को स्वीकार नहीं करता। अतरात्मा जीव वर्तमान ज्ञान-

अवस्था को अंतरोन्मुख करके त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का स्वीकार करता है और संयोगों अथवा रागादि का अवलम्बन नहीं मानता। रागादि होते अवश्य हैं परन्तु उनका आश्रय नहीं मानता। परमात्मा जीव अपने त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से परिपूर्ण हो गया है, उसे रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती। इन तीन दशाओं में जो अंतरात्मा है वह परमात्मा होने का उपाय है। बहिरात्मापना दूर करके अन्तरात्मापना और परमात्मापना कैसे प्रगट हो अर्थात् अधर्मीपना दूर होकर धर्मीपना कैसे हो–उसकी बात यहाँ चल रही है।

(१८७) निर्विकल्प समाधि का आनंद कब आता है?

मतिज्ञान को स्वभावोन्मुख करके स्वभाव में स्थित हो, तो श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा के आनंद का अनुभव हो। मति और श्रुत ज्ञान पर में एकता करें तो आकुलता का वेदन होता है। पहले सत्य उपदेश के श्रवण से स्व-पर का भिन्नत्व जाने और मतिज्ञान को अंतरस्वभावोन्मुख करके श्रुतज्ञान भी आत्मा में स्थिर हो तब आत्मा को निर्विकल्प समाधि का अतीन्द्रिय आनंद होता है, उसका नाम निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, वह आत्मसमाधि है, वही सुख है और वही धर्म है।

आकाश पर द्रव्य है, ज्ञान से पृथक् है, वह श्रुतज्ञान का विषय है, परन्तु यदि उस का आश्रय करके श्रुतज्ञान जाने तो श्रुतज्ञान में विकल्प और आकुलता ही होती है; और स्वभाव का आश्रय करके वह ज्ञान एकाग्र हो तब श्रुत-

ज्ञान मे निर्विकल्प समाधि का आनद होता है। ऐसे ज्ञान-स्वभाव की रुचि और प्रतीति जो करे वह मोक्षमार्ग प्रगट करके अनुक्रम से पूर्ण दशा प्रगट करता है।

(१८८) स्वानुभवप्रत्यक्ष आत्मस्वभाव को समझने और सुनने की अपूर्वता

आत्मा स्वयं सूक्ष्मस्वभाव वाला है, वह किसी पर के अवलम्बन से ज्ञात हो वैसा नहीं है, परन्तु स्वभाव का अवलम्बन करने से उसे जाना जा सकता है, अर्थात् आत्मा स्वानुभवप्रत्यक्ष है। अनतकाल मे अपने आत्मा को जानने की जीव ने कभी दरकार नहीं की है, अनतकाल से जो कुछ जाना है वह मात्र पर को जाना है परन्तु अपने को जानने की दरकार नहीं की है। अपना स्वरूप जाने बिना पर का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता। श्री समयसार की चौथी गाथा मे आचार्यदेव ने कहा है कि—अपने आत्मस्वभाव से विरुद्ध ऐसी काम, भोग, बध की कथा तो सर्व जीवों को सुलभ है, वह तो जीव ने अनतकाल से सुनी है, उस का परिचय किया है और अनुभव भी किया है, परन्तु पर से भिन्न अपने एकत्वस्वभाव की बात भी कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी है। अपना आत्मा सदैव अंतरग मे प्रकाशमान है और निर्मल भेदज्ञान के प्रकाश से उसे स्पष्ट भिन्न देखा जा सकता है, परन्तु पर के साथ की एकत्वबुद्धि के कारण स्वय अपने भिन्न स्वभाव को कभी नहीं जाना है, और न दूसरे आत्मज्ञानी पुरुषों की सेवा-सगति की है, न उन की

बत रुचिपूर्वक सुनी है। जब सत्पुरुष की वाणी सुनने का योग मिला तब भी स्वाश्रय की रुचि नहीं की और वाणी आदि के या पराश्रित व्यवहार के लक्ष में रुक गया, इससे अनंतकाल मे जीव आत्मस्वभाव को नहीं समझा है। जिस प्रकार मगशेलिया (एक प्रकार का पत्थर) पर लाखों मन पानी पडे तो भी वह भीगता नहीं है, उसी प्रकार जो अपने भावश्रुतज्ञान को अंतरोन्मुख करके चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव का आश्रय नहीं करता और द्रव्यश्रुत के अवलम्बन से ही ज्ञान मानकर रुकता है–ऐसे जीव पर सत्पुरुष की अमृतवाणी की वर्षा चाहे जितनी हो परन्तु वह भीगता नहीं है—उसे धर्म नहीं होता। वाणी के लक्ष से धर्म नहीं होता परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है। सत्पुरुषों की वाणी भी स्वभाव का आश्रय करने के लिए कहती है, परन्तु जीव स्वयं भावश्रुत प्रगट करके स्वभाव का आश्रय न करे तो द्रव्यश्रुतरूप वाणी उसे क्या करेगी? वाणी तो अचेतन है, उस के आधार से ज्ञान नही है। आत्मा की ओर उन्मुख न होकर परोन्मुख होने से जो ज्ञान हो वह वास्तव में अचेतन है, आत्मा के चेतन स्वभाव के साथ उस की एकता नहीं है।

(१८९) आकाश बड़ा या ज्ञान?

आज प्रवचनसार की प्रसिद्धि का महान दिवस है और बात भी महान सर्वव्यापक आकाश द्रव्य की आयी है। उस आकाश द्रव्य से भी ज्ञान पृथक् है। ज्ञान को आकाश का

आश्रय नहीं है परन्तु अपने स्वभाव का ही आश्रय है। इस जगत मे अनत जीव हैं, जीवों की अपेक्षा पुद्गल अनतगुने हैं, पुद्गलो की अपेक्षा तीनकाल के समय अनतगुने हैं और काळ के समय की अपेक्षा आकाश के प्रदेशों की सख्या अनंतगुनी है, और इन सब की अपेक्षा आत्मोन्मुख ज्ञान के एक समय का अनंतगुना सामर्थ्य है। यदि ज्ञान आत्मोन्मुख हो तो वह आकाशादि से भी अनतगुना जाने—वैसी उस की अवस्था की शक्ति है। और ऐसी अनत अवस्था का पिण्ड आत्मस्वभाव है। ऐसे सम्पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य का विश्वास और महिमा न करे और आकाशादि ज्ञेय पदार्थों को जानने मे ही रुक जाय तो जीव को धर्म नहीं होगा, इसलिए यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि आत्मा का ज्ञान आकाशादि पदार्थों से भिन्न है।

(१९०) धर्म कहाँ और कैसे होता है ?

ज्ञान से आत्मा का धर्म किस प्रकार होता है—उसकी यह बात है। धर्म कहीं बाह्य मे तो होता नहीं है, और आत्मा के द्रव्य या गुण में भी नहीं होता, धर्म आत्मा की वर्तमान अवस्था में होता है। अब ज्ञान की वर्तमान अवस्था यदि आकाश द्रव्य की ओर लक्ष करे तो उस अवस्था में धर्म नहीं होता। 'समस्त द्रव्यों की अपेक्षा आकाश द्रव्य अनतगुना विशाल है'—ऐसा श्रुतज्ञान के विकल्प से—राग मे एकता करके जो ज्ञान लक्ष में ले उस ज्ञान को भी अचेतन पदार्थों के साथ अभेद गिनकर अचेतन कहा है। और जो ज्ञानअवस्था आकाशादि पर द्रव्यों की ओर के

विकल्प से छूटकर आत्मस्वभावोन्मुख हो वह ज्ञान राग रहित है, चेतन के साथ अभेद है, और वह ज्ञान ही धर्म है।

(१९१) पराश्रित ज्ञान अचेतन है, स्वाश्रित ज्ञान केवल का कारण है

अनंत आकाश को लक्ष में लेने पर भी जो ज्ञान पराश्रित है वह अचेतन है; और आत्मा का जो वर्तमान ज्ञान दयादि के विचारों मे रुके वह भी अचेतन है। एक समय के भावश्रुत ज्ञान को स्वभावोन्मुख करके त्रिकाली आत्मस्वभाव की रुचिवाला जो ज्ञान प्रगट हो वह त्रिकाली चेतन के साथ एक हुआ, उसे यहाँ चेतन कहा है। स्वभाव का आश्रय करके आत्मा को जानता है वह निश्चय है, और स्वभाव के आश्रय पूर्वक आकाश की अनंतता इत्यादि को जाने वह व्यवहार है। इस प्रकार अपार चैतन्यस्वभाव को लक्ष मे लेकर उसका आश्रय करे उसी को यहाँ यथार्थ ज्ञान कहा है, अज्ञानी के पराश्रित ज्ञान को यहाँ अचेतन में गिना है। राग कम करके शास्त्र के आश्रय से ग्यारह अंगों को जाने, तथापि वह ज्ञान मात्र राग का चक्र बदलकर हुआ है, उस ज्ञान में स्वभाव का आश्रय नहीं है परन्तु राग का आश्रय है, इससे ग्यारह अंगों का ज्ञान भी अनादि की जाति का ही है। आत्मस्वभाव की रुचि करके उसमे समाधि–एकाग्रता द्वारा जो ज्ञान प्रगट हो वह अपूर्व है, मोक्ष का कारण है। भले ही शास्त्र इत्यादि–पर का अधिक ज्ञान न हो, फिर भी स्वभाव के आश्रय से हुआ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और वह केवलज्ञान का कारण है।

अब विचार करो कि–कितने बाह्य कारणों से आत्मा का ज्ञान प्रगट होता है ? बाह्य पदार्थों के ज्ञान से अथवा उस ओर के शुभराग से चैतन्यस्वरूप आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मोन्मुख हो तभी आत्मा का ज्ञान होता है। जीव की अपेक्षा पुद्गल, पुद्गल की अपेक्षा काल के समय और उनकी अपेक्षा आकाश के प्रदेश अनंत गुने हैं, उनका खयाल पर लक्ष से करे, परन्तु उन सब को खयाल में लेने वाला अपना चैतन्यस्वभाव कैसा है उसे खयाल में न ले तो मात्र पर लक्ष से हुआ ज्ञान का विकास स्थायी नहीं रहता। आत्मा का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, अपने चैतन्यस्वभाव के यथार्थ ज्ञान बिना पर का ज्ञान यथार्थ नहीं होगा। और ऐसे ज्ञान से आत्मा को सुख या धर्म नहीं होगा।

(१९२) चैतन्य को लक्ष में लेने वाले ज्ञान का अनंत सामर्थ्य और उसकी महिमा

सभी द्रव्यों में आकाश की प्रदेशसंख्या अनंत है, परन्तु आत्मस्वभाव का ज्ञानसामर्थ्य उससे भी अनंतगुना है, क्योंकि अनंत आकाश को जाने–ऐसा ज्ञान की एक पर्याय का सामर्थ्य है, ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड एक ज्ञानगुण है और ऐसे ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनंत गुण आत्मा मे हैं। ऐसे चैतन्यस्वभाव की अनंतता लक्ष में लेने से ज्ञान की अपनी ओर की अनंतगुनी दशा विकसित हुई। आकाश की अनंतता की अपेक्षा चैतन्य की अनंतता अनंतगुनी है, इससे आकाश को लक्ष में लेने

वाले ज्ञान की अपेक्षा चैतन्य को लक्ष में लेने वाले ज्ञान में अनंतगुना सामर्थ्य है। और ऐसे अनंत चैतन्यसामर्थ्य का ज्ञान करने से सम्यक् पुरुषार्थ विकसित हुआ है। आकाश की अनंतता लक्ष मे लेने वाला ज्ञान पर प्रकाशक है—उसकी महिमा नहीं है और वास्तव में वह मोक्षमार्ग में सहायक नहीं है। जो ज्ञान स्वभाव को पकड़कर एकाग्र हो उस ज्ञान की महिमा है, और वह मोक्षमार्गरूप है। यहाँ पर की ओर के ज्ञान का निषेध करने से वास्तव में तो व्यवहार का और पर्यायबुद्धि का ही निषेध करके उसका आश्रय छुड़ाया है। इसी प्रकार धर्म होता है। इसमें पाप भाव की तो बात नहीं है और राग कम करके पुण्य करते करते धर्म होजायेगा—ऐसा कोई माने तो उसे किंचित् धर्म नहीं है, परन्तु मिथ्यात्व के पाप की पुष्टि करते रहने से उसकी पर्याय मे निगोददशा होती है।

द्रव्यों की संख्या मे पुद्गल द्रव्य सब से अनंत हैं; क्षेत्र से आकाश द्रव्य सब की अपेक्षा अनंतगुना है, और भाव से भगवान आत्मा के ज्ञान की अनंतता है। समस्त पदार्थों की अनंतता को जानने वाला आत्मा का ज्ञान ही है, उस ज्ञान की ही महिमा है। ज्ञानस्वभाव की अनंतता की महिमा जानकर उसमें जो ज्ञान उन्मुख हुआ वह ज्ञान आत्मकल्याण का कारण है। छह द्रव्यों के स्वभाव का यथार्थ वर्णन सम्पूर्ण सर्वज्ञदेव के मार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है, और उन छह द्रव्यों का तथा उन्हें जानने वाले

अपने ज्ञानस्वभाव का यथार्थ स्वीकार करने वाले सर्वज्ञ देव के अनुगायी—सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं।

(१९३) जिनवाणी का सार

आज प्रवचनसार की प्रभावना का दिन है। प्रवचन अर्थात् जिनवाणी। उपरोक्त कथनानुसार ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानना ही सर्व जिनवाणी का अर्थात् प्रवचन का सार है।

(१९४) चेतन को भूले वह ज्ञान अचेतन है

आकाश की अनंतता आदि छहों द्रव्यों को राग सहित लक्ष में ले—उतना विकास तो अज्ञान में भी होता है। समस्त द्रव्यों में आकाश अनतगुने प्रदेश वाला है—ऐसा तो मिथ्याश्रुत ज्ञान भी खयाल मे लेता है। परन्तु पर पदार्थों का चाहे जितना ज्ञान करे वह आत्मा के जानने में कार्यकारी नहीं होता। अपने स्वभाव की स्वीकृति के बिना जितना पर का ज्ञान हो वह सब अचेतन है। चेतन तो उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को स्वीकार करके उसमें अभेद हो। चैतन्य से भेद करके पर में अभेदत्व माने तो वह ज्ञान चेतन का विरोधी है।

आकाश जड़ द्रव्य है, और उस में ज्ञान नहीं है—ऐसा तो सामान्यतः अनेक जीव मानते हैं, परन्तु यहाँ मात्र आकाश का ही अचेतनत्व सिद्ध नहीं करना है किन्तु आचार्यदेव ने यहाँ गूढ़भाव भरे हैं। अकेले आकाश की ओर का ज्ञान भी अचेतन है—ऐसा कहकर त्रिकाली आत्म-स्वभाव के साथ ज्ञान की एकता बतलाते हैं। इससे वर्तमान

ज्ञान में से पर का और पर्याय का भी आश्रय छोड़कर त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करना बतलाया है।

(१९५) पात्र जीव को स्वोन्मुख करने का उपदेश

जिस जीव ने कुदेव–कुगुरु कुशास्त्र-कुतीर्थ की मान्यता छोड दी है, और जैन के नाम पर भी जो कल्पित मिथ्या मार्ग चलता है उस की श्रद्धा छोड़कर सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा–पहिचान की है और उन के कहे हुए आकाशादि द्रव्यों के विचार में ही रुका है, परन्तु अपने स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता—ऐसे पात्र जीव के लिए यहाँ उपदेश है कि-हे जीव! पर द्रव्योन्मुख होकर रागसहित जो ज्ञान जाने वह तेरा स्वरूप नहीं है, परन्तु चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर ज्ञान की जो अवस्था चैतन्यस्वभाव में अभेद होकर स्व–पर को जाने वह तेरा स्वरूप है। चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर उस में लीन हुई पर्याय ही चैतन्य का सर्वस्व है।

(१९६) सत् की दुर्लभता और श्रोता की पात्रता

यह बात आत्मस्वभाव की है, किन्हीं अन्य संप्रदायों के साथ अथवा लौकिक बातों के साथ इस का किंचित् मेल नहीं बैठ सकता, और यह बात अन्यत्र जहाँतहाँ से मिले ऐसी नहीं है। तथा जिसे आत्मकल्याण की दरकार है, भवभ्रमण का डर है–ऐसे आत्मार्थी के अतिरिक्त दूसरे जीवों को यह बात नहीं जम सकती। ऐसे मनुष्य अवतार में आया और परम दुर्लभ सत्यवाणी सुनने का योग मिला,

यदि इस समय स्वभाव की रुचि से यह बात नहीं सुने-समझे तो फिर कब सुनेगा? अनतकाल मे ऐसी बात सुनने को मिलना दुर्लभ है।

(१९७) साधक जीव की जागृति

अहो! अनंत आकाश को लक्ष मे लेने वाले-ऐसे ज्ञान को भी जो जीव 'अचेतन' मानेगा वह जीव राग-द्वेष को कैसे अपना मानेगा? और उससे धर्म होना कैसे मानेगा? पर का कर्ता अपने को कैसे मानेगा? यह जीव तो अपनी ज्ञानपर्याय का भी आश्रय छोडकर अपने परिपूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख होकर वहाँ लीन होगा। अहो, ऐसे भगवान चैतन्यस्वभाव की स्वीकृति मे कितना पुरुषार्थ है! अपने मति-श्रुतज्ञान को स्वभाव में एक करके स्वभाव के आश्रय से मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ-ऐसा जिसने स्वीकार किया है उसकी ज्ञानचेतना जागृत हुई है, वह आत्मा स्वय जागृत हुआ है, साधक हुआ है, और अब अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करने वाला है।

(१९८) आत्मकल्याण की अपूर्व बात

यह आत्मकल्याण की अपूर्व बात है। यह जल्दी से समझ मे न आये तो अरुचि नहीं लाना चाहिए, परन्तु विशेष अभ्यास करना चाहिए। 'यह मेरे आत्मा की अपूर्व बात है, इसे समझने से ही कल्याण है'-इस प्रकार अंतर में उसकी महिमा लाकर रुचि पूर्वक श्रवण-मनन करना चाहिए। समस्त आत्माओं मे यह समझने की शक्ति

है। मैं पुरुष हूँ मै स्त्री हूँ, मै वृद्ध हूँ, मै बालक हूँ,- ऐसी शरीरबुद्धि छोड़कर अंतरंग में ऐसा लक्ष करना चाहिए कि मैं आत्मा हूँ, शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ, प्रत्येक आत्मा भगवान है-ज्ञानस्वरूपी है, उस में परिपूर्णतया समझने की शक्ति भरी हुई है, इसलिए 'मेरी समझ मे नहीं आता'-ऐसी शल्य को निकालकर, 'मुझे सब समझ में आता है-ऐसी मेरी शक्ति है'-ऐसा विश्वास करके समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जो रुचिपूर्वक प्रयत्न करे उसकी समझ में न आये-ऐसा हो ही नहीं सकता। इस में बुद्धि के विकास की अधिक अवश्यता नहीं है, परन्तु रुचि की आवश्यक्ता है।

(१९९) स्वाश्रयी मेढक को धर्म और पराश्रयी द्रव्यलिंगी को अधर्म

ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, और उसकी पर्याय यदि परोन्मुख होकर ही जाने तो भगवान उसे 'अचेतन' कहते हैं, क्यों कि वह ज्ञान स्वभाव की रुचि से प्रगट नहीं हुआ है, परन्तु पर की रुचि से राग की मंदता होकर प्रगट हुआ है। एक मेढक का आत्मा भी चैतन्य की पर्याय को स्वोन्मुख करके एकाग्र करे तो उस के ज्ञान को चेतन कहा है, वह धर्मी है, उसके आत्मा मे प्रतिक्षण धर्म होता है। और कोई दिगम्बर जैन द्रव्यलिंगी साधु होकर २८ मूल-गुण तथा पंच महाव्रतों का निरतिचार पालन करे, नवतत्त्व के व्यवहार की श्रद्धा करे और ग्यारह अंग तक पढ़ ले, जैन-दर्शन में कही हुई पूर्ण व्यवहार की रीति करे, परन्तु

अपने स्वावलम्बी चैतन्यस्वभाव में लक्ष न करे तो उसका सारा ज्ञान और चारित्र मिथ्या है; भगवान उसके ज्ञान को अचेतन कहते हैं। वह चाहे जितना करे परन्तु उसे धर्म नहीं होता, प्रतिक्षण अधर्म होता है। इसलिए बाह्य में छोटे-बड़े शरीर के साथ या अंतरंग ज्ञान के विकास के साथ धर्म का सम्बंध नहीं है, परन्तु अपने ज्ञान में स्वाश्रय करे या पराश्रय करे—उसके साथ धर्म-अधर्म का सम्बंध है। यदि स्वाश्रय करे तो मेढक का आत्मा भी धर्म प्राप्त करता है; और स्वाश्रय न करे तो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु भी धर्म प्राप्त नहीं करता।

(२००) मूल तात्पर्य

इस समस्त कथन का तात्पर्य संक्षेप में समझना हो तो ऐसा है कि-आत्मा के ज्ञान को पर्यायबुद्धि से हटाकर द्रव्यबुद्धि में लाना—यही आत्मकल्याण का-हित का-श्रेय का-मोक्ष का अथवा धर्म का मार्ग है; इसी में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपादिका समावेश हो जाता है। प्रथम तो अपने अंतर में अपने आत्मस्वभाव का उत्साह आना चाहिए। अपना स्वभाव समझने के लिए उसके श्रवण मनन की रुचि होनी चाहिए।

(२०१) अहो, भगवान कुन्दकुन्द ! और जगत का महाभाग्य !

अहो ! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की क्या बात करें ? कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो भगवान कहलाते हैं ! उन का वचन अर्थात्

केवली का वचन। अंतर मे अध्यात्मस्रोत उछाले मार रहा था, एकदम केवलज्ञान की तैयारी थी, वीतरागभाव से अंतर में स्थिर होते होते फिर छद्मस्थदशा में रह गये और विकल्प उठने से इन महान शास्त्रों की रचना हो गई। इतना जगत का महाभाग्य! कि उन के द्वारा इन समयसार–प्रवचनसार जैसे महान परमागमों की रचना हो गई। इस समय तो वैसी शक्ति यहाँ नहीं है। सौराष्ट्र का भी महाभाग्य है कि गुजराती भाषा में वे शास्त्र प्रकाशित हो गये हैं।

(२०२) आत्मस्वभाव की भावना

व्याख्यान में एक की एक बात बारम्बार कही जाती है, तो उस में कहीं पुनुरुक्ति दोष नहीं होता, क्योंकि यह तो आत्मस्वभाव की भावना है, वह भावना बारम्बार करने में दोष नहीं है, परन्तु स्वभाव की दृढ़ता होती है-यह भावना तो बारम्बार करने योग्य है, बारम्बार आत्मस्वभाव को बात सुनने से उस मे किंचित् अरुचि नहीं आना चाहिए। यदि आत्मस्वभाव की वात बारम्बार सुनने से अरुचि हो तो उसे आत्मा की अरुचि है।

(२०३) भेदविज्ञान का सार कैसे प्रगट हो?

वर्तमान पर्याय पर को और अपने अंश को ही स्वीकार करे, परन्तु पर से भिन्न त्रिकाली पूर्ण आत्मा को स्वीकार न करे तो वह अज्ञान है। राग सहित ज्ञान से अनंत आकाश का खयाल आया, उससे पराङ्मुख होकर अर्थात् आकाश द्रव्य तथा उस ओर उन्मुख होकर उसे जानने वाले

ज्ञान के अंश का आश्रय छोड़कर जीव परिपूर्ण ज्ञान-स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ उस का ज्ञान राग रहित हुआ, अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट हुआ, अनन्त कषाय का नाश हुआ और ज्ञान के स्वरूपाचरणरूप अनंत चारित्र प्रगट हुआ, रागरहित ज्ञानस्वभाव की यथार्थ प्रतीति और अनुभव से सम्यग्दर्शन हुआ। पहले जो ज्ञानपर्याय पर मे रुकती थी उस पर्याय में मिथ्याश्रद्धा–मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र था, और जब ज्ञानपर्याय स्वोन्मुख हुई तब उस पर्याय में सम्यक्श्रद्धा-सम्यक्ज्ञान और अनन्त स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ। मति–श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करना वह भेदविज्ञान का सार है–उस की यह बात है। मति–श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करने के पश्चात् स्वभावसामर्थ्य की प्रतीतिपूर्वक ज्ञान में पर पदार्थ भी ज्ञात होते हैं, वह तो ज्ञान का ही स्व–पर प्रकाशक सामर्थ्य है, वहाँ पर पदार्थ ज्ञात होते हैं, उससे कहीं ज्ञान में दोष नहीं होता।

(२०४) देशना लब्धि और भेदविज्ञान का सार

आत्मज्ञानी पुरुष के उपदेशरूप देशना लब्धि मिलने से आत्मस्वभाव की जिसे रुचि हुई उसे मुक्ति के लिए भावी नैगमनय लागू होगया अर्थात् वह जीव भविष्य मे मुक्ति प्राप्त करेगा,–ऐसा ज्ञानी जानते है। धर्म प्राप्त करने वाले जीवों के देशना लब्धि होती है–ऐसा नियम है। सत्समागम से परमार्थ आत्मस्वभाव का श्रवण करके उस स्वभाव को रुचि पूर्वक बारम्बार अभ्यास करके जंय ज्ञान स्वसन्मुख

होकर आत्मा को जानता है तब, पहले तो मतिज्ञान से आत्मा का अवग्रह होता है, फिर वही ज्ञानउपयोग विशेष दृढ़ होने से श्रुतज्ञान का उपयोग स्वभाव में स्थिर होता है। जो श्रुतज्ञान स्वभाव में अभेदरूप से स्थिर हुआ उसे निश्चय-नय कहते हैं, वही धर्म है, वही भेदविज्ञान का सार है। स्वभाव की ओर ढलते हुए ज्ञान को ही यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि कहा है।

(२०५) आकाशादि का ज्ञान अज्ञानी को मिथ्या, और ज्ञानी को सम्यक्

अज्ञानी को आकाशादि का जो ज्ञान होता है वह सब मिथ्या है; क्योंकि वह स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर में एकत्वबुद्धि से जानता है। ज्ञानी को आत्मा की पहिचान सहित जो आकाशादि का ज्ञान है वह सब सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान मे स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य होने से पर पदार्थों का ज्ञान भी सम्यक्ज्ञान मे मिल गया, पर को जानते समय वह एकताबुद्धि पूर्वक नहीं जानता परन्तु स्वभाव का ही आश्रय रखकर जानता है, इसलिए वह ज्ञान मिथ्या नहीं है। तथापि ज्ञानी का स्वोन्मुख ज्ञानउपयोग और परोन्मुख ज्ञानउपयोग—दोनों पृथक् हैं। स्व-पर के भेदविज्ञान के बल से ज्ञानी के प्रतिक्षण स्वभाव की ओर ज्ञान की उन्मुखता बढ़ती जाती है और परोन्मुखता दूर होती जाती है।

(२०६) भेदविज्ञान में ही सामायिकादि आ जाते हैं

जो जीव आत्मा और ज्ञान को अभेद करे उसी के

सच्चा समभाव अर्थात् सामायिक होती है, उस जीव ने अपने स्वभाव में ही संतोष माना और सर्व पर द्रव्यों में अपनत्व की बुद्धि छोड़ दी—उसका नाम प्रतिक्रमण है। उस जीव ने शरीर और शरीर की आहारादि क्रियाओं से अपने स्वभाव को भिन्न जानकर शरीर का स्वामित्व छोड दिया उस मे चौविध आहार का त्याग आ गया। आत्मा की पर्याय को स्वभाव मे ही लीन करने से—'तीनों काल के समस्त आहार मैं नहीं हूँ, उस ओर का राग मैं नहीं हूँ और उस के लक्ष से उस का ज्ञान होता है—वह भी मैं नही हूँ'—इस प्रकार उन सब से भेदज्ञान हुआ इस से सम्यग्दृष्टि—भेदज्ञानी-धर्मात्मा को श्रद्धा में से तीनों काल के आहार का त्याग हो गया। इस में कितने उपवास आ गये? प्रथम इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से तीनों काल के आहार का त्याग करने के पश्चात् आत्मस्वरूप मे विशेष एकाग्र होने से स्वरूपसमाधि का आनद बढता जाता है और आहारादि की इच्छाएँ दूर होती जाती हैं—उसका नाम तप है—वह चारित्र है। आत्मा की पहिचान के बिना आहारादि के राग को कम करे उसे कहीं उपवास नहीं कहते। परकी—शरीर की और रागादि की रुचि छोड़कर जो मति—श्रुतज्ञान स्वभावोन्मुख हुआ वह मोक्ष का कारण है। मन—वाणी—देह से भिन्न चैतन्य को जानकर उस में एकाग्र हुआ वहाँ शरीरादि पर का लक्ष्य ही छूट गया—काया से उपेक्षाभाव हो गया—उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। इस प्रकार स्व—पर का भेदज्ञान करके ज्ञान को स्वभावोन्मुख करने से उस में समस्त धर्म आ

जाते हैं। इस से ज्ञान को स्वभाव में एकाग्र करना वह भेदविज्ञान का सार है।

यहाँ पर को जानने वाले ज्ञान पर जोर नहीं दिया है, बारह अंग का ज्ञान अथवा जातिस्मरण आदि ज्ञान पर जोर नहीं है, परन्तु स्वभाव के लक्ष से जो मति-श्रुतज्ञान स्व में एकाग्र हो उसकी महिमा है-वह ज्ञान मोक्ष का कारण है।

× × ×

अध्यवसान (राग-द्वेष) और ज्ञान का भिन्नत्व

पाँचों जड द्रव्यों से ज्ञान की भिन्नता का वर्णन पूर्ण हुआ। अब आत्मा की अवस्था मे होने वाले विकारी भावों से ज्ञान की भिन्नता बतलाते हैं—

"अध्यवसान हैं वह ज्ञान नहीं है; क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इससे ज्ञान और अध्यवसान भिन्न हैं।" स्वभाव का आश्रय छूटकर कर्म के उदय के निमित्त से जो राग-द्वेषादि विकारी भाव होते हैं उसे अध्यवसान कहते हैं वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।

(२०७) आत्मा के ज्ञान का पर जीवों से भिन्नत्व

प्रश्नः—यहाँ टीका में पाँच जड द्रव्यों से और विकारी भावों से तो ज्ञान की भिन्नता बतलाई, परन्तु दूसरे जीवों से इस आत्मा का ज्ञान पृथक् है-ऐसा क्यों नहीं कहा?

उत्तर.—अध्यवसान है वह ज्ञान नहीं है-इसमें उस बात का समावेश हो जाता है, क्योंकि एक जीव अपने ज्ञान

में जब दूसरे जीव को लक्ष मे लेकर उसका विचार करे तब अध्यवसान की ही उत्पत्ति होती है। और अध्यवसान से ज्ञान को भिन्न कहा है, इससे पर जीव के लक्ष से होने वाला ज्ञान भी वास्तव में ज्ञान नहीं है-ऐसा उसमें आ जाता है।

सच्चे देव और सच्चे गुरु भी अन्य जीव हैं, इस आत्मा से उनका आत्मा पृथक् है। अपने आत्मा की ओर ज्ञान को उन्मुख किए बिना, दूसरे आत्मा का विचार करने मे जो ज्ञान रुके वह अध्यवसान है और वह अचेतन है। अपना स्वरूप जाने बिना ज्ञान पर को जानने के लिए जाये तो वह पर मे ही एकता मान लेता है-वह अध्यवसान है। उससे आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

(२०८) श्री देव गुरु का माहात्म्य और उनकी परमार्थ विनय

शास्त्रों मे सच्चे देव-गुरु के माहात्म्य का बहुत बहुत वर्णन होता है, परन्तु उनके लक्ष से ज्ञान को रोक रखने के लिए वह वर्णन नहीं है। स्त्री आदि विषय-कषाय के निमित्तों का माहात्म्य तथा कुदेव-कुगुरु का माहात्म्य छुड़ाने, और जीव को अपना स्वच्छंद छुड़ाने के लिए सच्चे देव-गुरु का माहात्म्य है। श्री देव-गुरु तो आत्मा के चैतन्यस्वभाव का ही माहात्म्य बतलाते हैं। अपने चैतन्य-स्वभाव की महिमा को भूलकर जो जीव मात्र देव-गुरु इत्यादि निमित्तों की महिमा करने में ही रुक जाता है उसे

सम्यग्ज्ञान नहीं होता। वास्तव में तो अपने आत्मस्वभाव का आश्रय करने से ही श्री देव-गुरु की परमार्थ विनय आती है; क्योंकि श्री देव-गुरु ने जैसा कहा था वैसा स्वयं अपने आत्मा में किया-इससे उसी में देव-गुरु की आज्ञा और परमार्थ विनय आयी। पश्चात् जहाँतक शुभराग हो वहाँतक सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्ति-बहुमान-विनय और सर्वस्व अर्पणता के भाव आते हैं, परन्तु आत्मा के भिन्नत्व के भान बिना निमित्त के लक्ष में रुक जाये तो आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा।

श्री देव-गुरु-शास्त्र तो ऐसा बतलाते हैं कि वस्तु का अनेकांत स्वभाव है; आत्मा आत्मारूप है और अन्य देव-गुरु-शास्त्ररूप अथवा रागरूप नहीं है। एक आत्मा दूसरे आत्मारूप नहीं है। यदि राग में एकाग्र होकर देव-गुरु-शास्त्र का विचार करे तो वह अध्यवसान है, अध्यवसान अचेतन है।

(२०९) चैतन्य के लक्ष बिना जो है—वह सब मिथ्या है

आजकल लोगों में जैनधर्म के नाम से जो बात चल रही है उस में मूल से ही अन्तर है। मूल आत्मस्वभाव की दृष्टि के बिना शास्त्रादि से हजारों बातें जान ले, परन्तु उन में एक भी बात सत्य नहीं होती। पूर्व की मानी हुई सारी बातों को व्यर्थ समझकर यह बात सुने तो अंतरंग में जम सकती है। जिस प्रकार कुम्हार एक साथ मिट्टी लाकर उस

में हजारों बर्तन बनाता है, परन्तु यदि मिट्टी में चूने का कुछ अंश हो तो जब वह बर्तनों को भट्ठी में डाले (अग्नि में पकाये) उस समय एक भी बर्तन साबित नहीं रहता—सारी भट्ठी को निकालकर फिर से मिट्टी लाकर बर्तन बनाना पड़ते हैं। उसी प्रकार चैतन्यतत्त्व के लक्ष बिना जो कुछ किया वह सब सत्य से विपरीत होता है, सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर कसने से उस की एक भी बात सच्ची नहीं निकलती। इसलिए जिसे आत्मा में अपूर्व धर्म करना हो उसे अपनी मानी हुई पूर्व की सभी बातें अक्षरशः मिथ्या थीं—ऐसा समझकर ज्ञान की सम्पूर्ण उन्मुखता बदल देना पड़ेगी। परन्तु यदि अपनी पूर्व की बात को बनाये रखे और पूर्व की मानी हुई बातों के साथ इस बात को मिलाने जाये—तो अनादि की जो गड़बड़ी चली आ रही है वह नहीं निकलेगी और यह अपूर्व सत्य समझ में नहीं आयेगा।

(२१०) स्वभाव का सच्चा ज्ञान ही देव—गुरु—शास्त्र की परमार्थभक्ति है

अनादि से अज्ञानी जीवों को मिथ्या मति—श्रुतज्ञान होते हैं और साधक ज्ञानी के सम्यक् मति—श्रुतज्ञान होते हैं, उन्हीं की बात यहाँ पर चल रही है। मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यक्ज्ञान किस प्रकार होता है—उसका यह उपाय कहते हैं। अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर दूसरे जीव का विचार करे तो वह राग का कार्य है, वह श्रुत का अध्यवसाय है परन्तु सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं है। देव—गुरु—शास्त्र की भक्ति,

महिमा, पूजा, प्रभावना आदि के शुभराग से सम्यग्ज्ञान का विकास माने उस जीव के शुभराग और ज्ञान की एकता का अभिप्राय है, वह मिथ्या अध्यवसान है। श्री देव-गुरु-शास्त्र ने तो ज्ञान और राग को भिन्न बतलाकर ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने को कहा है, जिस जीव ने वैसा न किया उसने देव-गुरु-शास्त्र की परमार्थभक्ति नहीं की है। देव-गुरु-शास्त्र के राग का आश्रय छोड़कर अपने आत्मस्वभाव का सच्चा ज्ञान करे-उस सच्चे ज्ञान मे ही देव-गुरु-शास्त्र की परमार्थभक्ति और उनकी विनय का समावेश हो जाता है।

(२११) ज्ञान और राग का भेदज्ञान अनेकान्त धर्म है

आत्मा का ज्ञान रागरूप नहीं है। जो ज्ञान राग में रुककर जानता है उस ज्ञान को जो आत्मा का साधन माने उस जीव को ज्ञान और राग में एकत्व की बुद्धि है। ज्ञान मे राग नहीं है और राग में ज्ञान नहीं है, ज्ञान के आधार से राग नहीं है और राग के आधार से ज्ञान नहीं है ऐसा समझना वह अनेकान्त धर्म है। परन्तु जो राग को ज्ञान का कारण माने उसने ज्ञान और राग को भिन्न नहीं परन्तु एक ही माना है—वह एकान्तवाद है-अधर्म है-मिथ्या अध्यवसाय है। ज्ञान को स्वभावोन्मुख करके एकाग्र होना वह धर्म है।

(२१२) राग और ज्ञान का भेदज्ञान करे-तभी राग दूर होता है

चैतन्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई पर्याय-वह चैतन्य

का स्वभाव है, और चैतन्यस्वभाव की ओर से उन्मुखता दूर होकर जिनेन्द्र भगवान-गुरु अथवा शास्त्र के लक्ष से जो ज्ञान हो वह चेतन का स्वभाव नहीं है, और उससे संवर-निर्जरा नहीं होते। पर्याय में चेतनत्व-चेतन के साथ एकत्व हुए बिना संवर-निर्जरा कहाँ होंगे? और राग का अभाव किस के बल से होगा? यथार्थ चैतन्यस्वभाव की प्रतीति बिना वास्तव में रागादि दूर नहीं होते और राग कम हुआ भी नहीं कहलाता। राग रहित स्वभाव की स्वीकृति पूर्वक राग से आत्मा की भिन्नता जानकर जो राग कम हो वह राग कम हुआ कहलाता है। जो राग को ही अपना स्वरूप माने उसे राग कम हुआ कैसे कहा जायेगा?

(२१३) आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करने वाले जीव के राग अवश्य कम होता है

प्रश्न.—प्रभो! आपने जो कहा कि—'आत्मा के ज्ञान बिना यथार्थतया रागादि कम नहीं होते'—इसलिए आत्म-ज्ञान न हो वहाँ तक हमें रागादि कम नहीं करना चाहिये?

उत्तर.—भाई! यह बात तो बराबर है कि—आत्मा के ज्ञान बिना वास्तव में रागादि कम नहीं होते, परन्तु इससे उस का तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा को समझने का प्रयत्न करना। अब, जो जीव आत्मस्वभाव को समझने का प्रयत्न करे उस के रागादि कम हुए बिना नहीं रहेंगे। परन्तु जो राग कम हुआ उस की मुख्यता नहीं है, किन्तु आत्मज्ञान की मुख्यता है—यह नहीं भूलना चाहिए, अर्थात् मंद राग को धर्म नहीं मानना चाहिए। इस का यह अर्थ नहीं है कि—

आत्मा को न समझे तबतक तो स्वच्छंदरूप से वर्तन करना चाहिए और ऐसे के ऐसे तीव्र पाप करते रहना! विषय-कषाय बिल्कुल ही नहीं छोड़ना! पुण्य भी आत्मा का स्वरूप नहीं है-ऐसी बात जिसे रुचे-अर्थात् पुण्य रहित आत्मस्वभाव जिसे रुचे वह जीव पुण्य का आदर कैसे करेगा? वैसे जीव को विषय-कषाय की रुचि नहीं होती, सत्‌स्वभाव के प्रति और सत् निमित्तों के प्रति बहुमान आने से संसार की ओर का अशुभराग अत्यन्त मंद हो जाता है। इस के बिना तो धर्म होने की पात्रता भी नहीं होती। जिसे आत्मा का ज्ञान न हुआ हो उसे तो खूब प्रयत्न करके अशुभ रागादि को कम करके आत्मा को समझने का अभ्यास करना चाहिए। यदि ऐसा न करे और जैसे का वैसा अशुभ में ही वर्तता रहे तो आत्मा की समझ कहाँ से होगी?

(२१४) देशना लब्धि के बिना धर्म नहीं होता

जो ज्ञान, स्वभाव से होने वाली प्रवृत्ति न करे और कर्म के आश्रय से प्रवृत्ति करे वह चेतन नहीं है। चेतन-स्वभाव के आश्रय से जो उत्पन्न हो वह चेतन है, और चेतनस्वभाव के आश्रय से जो भाव उत्पन्न न हो वह अचेतन है। ऐसी आत्मस्वभाव की बात जगत के जीवों ने नहीं सुनी है, तब फिर अंतर में विचार करके प्राप्त कहाँ से करें? और कब उस की रुचि करके आत्मा में परिणमित करे?

परोन्मुख और स्वोन्मुख मति-श्रुतज्ञान का भिन्नत्व है,—ऐसा समझकर स्व और पर का भेदज्ञान करके अंतर-स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान—वह अपूर्व आत्मधर्म है।

卐 वीर सं. २४७४ भाद्रपद शुक्ला ३ सोमवार 卐

(२१५) लोग धर्म धर्म रटते हैं; परन्तु धर्म कैसे होता है?

आत्मा को धर्म कैसे होता है? अर्थात् आत्मा को शांति कैसे होती है? उस की बात चल रही है। कोई भक्ति में, कोई दया में, कोई पूजा मे या दानादि मे धर्म मान रहे हैं। रास्ता चलते हुए भिखमंगे भी कहते हैं कि-भाई! एक बोडी देना! आप को धर्म होगा! इस प्रकार जगत के जीव धर्म धर्म रट रहे हैं, परन्तु धर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है? वह वे नहीं जानते-इससे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। यदि एक क्षणमात्र भी धर्म का सच्चा स्वरूप समझले तो वे जीव संसार मे भ्रमण न करे। अपने को अपने आत्मा मे अधर्म दूर करके धर्म करना है, इससे अपना आत्मस्वरूप जाने विना किसी को धर्म नहीं होता।

आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है। जिस प्रकार लकड़ी, पुस्तक आदि पदार्थ दिखाई देते हैं उसी प्रकार आत्मा भी एक पदार्थ है। लकड़ी आदि को जानने वाला तत्व आत्मा है। लकड़ी अचेतन है और क्षणिक संयोगी है, परन्तु आत्मा

असंयोगी है, अनादि-अनंत ज्ञान-दर्शनस्वभाव वाला है। उसकी अवस्था में धर्म कैसे हो? पर के संग से अथवा पर के आधार से आत्मा को धर्म नहीं होता; परन्तु अपना पूर्ण स्वभाव है उसकी प्रतीति और आश्रय करने से धर्म होता है। इसलिए स्वयं कौन है? और पर क्या है? उसे समझ लेना चाहिए। शरीर, मन, वाणी, लक्ष्मी, देव-गुरु-शास्त्र-यह समस्त पदार्थ आत्मा से पर हैं-भिन्न हैं, उनसे तो इस आत्मा को धर्म या पुण्य-पाप नहीं होते। आत्मा की अवस्था में जो पुण्य-पाप हो वह भी आत्मा के चेतन स्वभाव से पर है-अचेतन है-विकार है, उसके आधार से भी धर्म नहीं होता। इन सब से रहित अपना ज्ञानस्वभाव है उस स्वभाव के साथ पर्याय की एकता करने से ही धर्म होता है-यह बात यहाँ पर आचार्य देव समझाते हैं।

(२१६) विकार से और पर जीवों से ज्ञान का भिन्नत्व

स्वभाव में ज्ञान की एकता कराने के लिए यहाँ पर आचार्यदेव ज्ञान का पर से भिन्नत्व बतलाते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान और अध्यवसान में भिन्नता है। कर्म के उदय की प्रवृत्ति में युक्त होने से आत्मा की वर्तमान अवस्था में जो पुण्य-पाप होते है वह विकारभाव है, उसे अध्यवसान कहते हैं। वह धर्म का कारण नहीं है क्यों कि वह अध्यवसान ज्ञान से भिन्न है। प्रथम पाँच अजीव द्रव्यों से ज्ञानस्वभाव

पृथक् बतलाया; अब अंतरंग में जो विकारभाव होते हैं उन से भिन्नत्व बतलाते हैं। यहाँ किसी को प्रश्न उठे कि 'पर जीवों से इस आत्मा का ज्ञान भिन्न है-यह बात क्यों नहीं कही?' उसका उत्तरः—अध्यवसान से भिन्न कहा-उसी मे पर जीवों से भी इस आत्मा का ज्ञानस्वभाव पृथक् है-यह बात भी आ जाती है। क्योंकि पर जीवों के लक्ष से अध्यवसान की ही उत्पत्ति होती है; इस से अध्यवसान से भिन्नत्व कहने से अन्य जीवों से भी भिन्नत्व समझ लेना।

(२१७) शुभ या अशुभराग आत्मा की जाति नहीं है, और न वह धर्म का कारण है

आत्मा के ज्ञानस्वभाव से बाहर लक्ष जाने से जो भाव होते हैं, वे आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध भाव हैं, वे भाव आत्मा की अवस्था में होते हैं, परन्तु वे विकार हैं, ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं, इससे धर्म के कारण नहीं हैं। अंतरंग में पैसा कमाने के भाव अथवा खाने-पीने आदि के भाव-वे पापभाव हैं और दया-दान-भक्ति आदि के भाव पुण्यभाव हैं, वे दोनों भाव अध्यवसान हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि वह अध्यवसान अचेतन है, उस मे ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है, चारित्र नहीं है धर्म नहीं है, सुख नहीं है। आत्मस्वभाव उस अध्यवसान से पृथक् है। अज्ञानीजन उस अध्यवसान को आत्मा मानते हैं और उस से धर्म मानते है—वह उनका मिथ्यात्व है। पुण्य-पाप के भाव तो चैतन्य की जागृति को रोकते हैं इस से वे

अचेतन हैं। जिस के ज्ञान में आत्मा का चैतन्यस्वभाव नहीं आता वह जीव अचेतन पुण्य परिणामों को आत्मा मानता है; यहाँ ज्ञानस्वभाव को उन पुण्य-पाप से भिन्न समझ कर भेदविज्ञान कराते हैं।

जैसे-जिस पेटी में सोना रखा हो उस पेटी से तो सोना पृथक् ही है और सोने के साथ जो तांबे का भाग है वह सोने के साथ एकमेक जैसा लगता है, तथापि सोना तो उस से भी पृथक् है। इसी प्रकार यह शुद्ध चैतन्य-स्वरूपी भगवान आत्मा शरीर-मन-वाणी-पैसा आदि जड़ से तो पृथक् ही है, और पर्याय मे जो राग-द्वेषादि विकार-भाव हैं उन से भी वास्तव मे पृथक् ही है। अज्ञानी को राग और ज्ञान एकमेक मालूम पड़ता है, परन्तु ज्ञान तो राग से पृथक् ही है। ज्ञान तो सबको जानता ही है इस से वह आत्मा है, और राग द्वेषादि भाव कुछ भी नहीं जानते इस से वे अचेतन हैं, आत्मा से पृथक् हैं, आत्मा के धर्म में वे बिल्कुल सहायता नहीं करते। शुभ या अशुभ राग-द्वेष, आत्मा की जाति नहीं है परन्तु आत्मस्वभाव से विरुद्ध जाति है-वह आत्मा को धर्म का कारण नहीं हैं, क्योंकि स्वयं अधर्म है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव को और रागादि भावों को भिन्न जानकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होना वह धर्म है।

(२१८) ज्ञानी पुण्य-पाप रहित आत्मा को समझने के लिये कहते हैं

हिंसा-चोरी-विषयभोगादि पापभावों की अपेक्षा तो दया

ब्रह्मचर्यादि भाव ठीक है, पाप की अपेक्षा से उन्हें पुण्य कहा जाता है। परन्तु उस पुण्य को धर्म का कारण माने तो मिथ्यात्वरूप महापाप होता है। कोई जीव पाप छोड़कर पुण्य करे और उसे धर्म माने तो उस जीव को मिथ्यात्व के महापाप मे कुछ भी फेर नहीं पड़ा है, परन्तु इससे ज्ञानी पुण्य छोड़कर पाप में जाने के लिए नहीं कहते हैं, परन्तु पुण्य-पाप रहित स्वभाव की अपूर्व प्रतीति करने को कहते हैं। पाप छोड़कर पुण्य अनन्तवार किए, वह अपूर्व नहीं है, परन्तु पुण्य-पाप रहित ज्ञानस्वभाव अनादिकाल से कभी नहीं समझा उसे समझ लेना ही अपूर्व धर्म है।

(२१९) अज्ञान और सम्यग्ज्ञान

पैसा, शरीरादि को अपना माने, और उनका मैं कर सकता हूँ–ऐसा माने वह जीव तो महान स्थूल अज्ञानी है, रागादि भावों को आत्मा माने वह भी अज्ञानी है, और उस राग की ओर ढलते हुए ज्ञान जितना आत्मा को माने तो वह भी अज्ञानी है। राग में रुकने वाला जो ज्ञान है वह आत्मा नहीं है परन्तु स्वभाव मे स्थिर होने वाला जो ज्ञान है वह आत्मा है। यहाँ द्रव्य-पर्याय की अभेदता से निर्मल पर्याय को आत्मा कहा है, क्योंकि निर्मल पर्याय और आत्मा अभेद हैं। शरीर के हलनचलन की या लक्ष्मी के आने-जाने की क्रियाएँ तो आत्मा नहीं करता, आत्मा लक्ष्मी आदि मे ममताभाव करे वह पाप है और तृष्णा को कम करे वह पुण्य है वे पुण्यपाप के भाव कर्म नहीं कराता, परन्तु आत्मा अपनी अवस्था मे करता है,

परन्तु वे पुण्य-पाप के भाव आत्मा के ज्ञानस्वभाव से पृथक् हैं इससे अचेतन हैं और इसीसे उन पुण्य-पाप के लक्ष से होने वाला ज्ञान भी आत्मस्वभाव नहीं है,—इन सब का लक्ष छोड़कर परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर पूर्ण स्वभाव के विश्वास से जो ज्ञान प्रगट हो वह सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा के साथ एकत्व रखता है और वह मोक्ष का कारण है।

(२२०) पाप और पुण्य—दोनों की एक ही जाति

पाप की अपेक्षा पुण्य में मंदकषाय है, परन्तु वह भी कषाय का ही प्रकार है। पुण्यभाव में धर्म नहीं है। जिस प्रकार पाप अधर्म है उसी प्रकार पुण्य भी अधर्म है।

(२२१) जिस के चैतन्य का पुरुषार्थ नहीं वह नपुंसक है

जो वस्तु आत्मा से पृथक् हो उससे आत्मा को लाभ नहीं होता, और उस पर वस्तु के लक्ष से भी आत्मा को लाभ नहीं होता। आत्मा के स्वभाव के लक्ष से ही आत्मा को लाभ होता है। लाभ कहो, शांति कहो, हित कहो, सुख कहो अथवा धर्म कहो—वह सब एकार्थ है। बाह्य में अनुकूल संयोग आएँ उसे अज्ञानी जीव लाभ मानते हैं और उन पदार्थों में सुख मानते हैं, परन्तु अपने स्वभाव मे सुख है उसे नहीं मानते। मुझ में सुख नहीं है और पैसे मे सुख है—ऐसा मानने वाले जीव अपने को निर्माल्य-पुरुषार्थ-रहित मानते हैं। अपने स्वभावसामर्थ्य को जानने का पुरु-

षार्थ न करने वाले और पर में सुख मानने वाले जीवों को आचार्यदेव नपुंसक कहते हैं। पुरुष तो उसे कहते हैं जो स्वभाव का पुरुषार्थ प्रगट करे। जो शुद्ध आत्मस्वभाव को नहीं जानते उन्हे नामर्द कहा है। आत्मा के असाधारण लक्षण को नहीं जानते उन्हे नपुंसक कहा है। (हिन्दी समयसार पृ० ८५) आत्मा में ही आनन्दसामर्थ्य है, परन्तु उस आनन्द का उपभोग करने की शक्ति जिन मे नहीं है वे जीव पर मे आनन्द मानते हैं और पर विषयों को देखकर संतुष्ट होते हैं—यह नामर्दी का चिह्न है। स्वभाव की श्रद्धा नहीं करते और पर मे सुख मानते हैं उन के चैतन्य का पुरुषार्थ नहीं है।

आत्मा स्वयं पुरुष है; अनंतगुणों मे रहकर आनंद का स्वसंवरूप से उपभोग करने वाला पुरुष है, चैतन्यस्वभावी भगवान है, पुरुषार्थ का सागर है; उस के असाधारण चैतन्यस्वभाव का जो अनुभव नहीं करता और पर्याय में पुण्य-पाप होते हैं उन्हीं को धर्म मानता है—वह जीव चैतन्य-पुरुषार्थ से रहित नपुंसक है।

(२२२) भवभ्रमण दूर करने का उपाय

आत्मा का चैतन्यस्वभाव पर से भिन्न है और पुण्य-पाप-रूप अध्यवसान से भी पृथक्, साक्षीस्वरूप ज्ञाता है,—ऐसे अपने आत्मा की जिसे श्रद्धा नहीं है—विश्वास नहीं है—खबर नहीं है, वह जीव 'मै पर का करूँ'—ऐसा मानता है और पुण्य-पापादि अध्यवसान को ही आत्मा मानता है। आत्मा

स्वयं भगवान, चैतन्यप्रकाश की मूर्ति है, चैतन्यत्व से उस की महिमा है, जो क्षणिक विकार होता है वह चैतन्य की जाति नहीं है। उस विकार से जो अपने को लाभ मानता है अथवा विकार को आत्मा मानता है, उस जीव का ज्ञान विकार को जानने में ही रुक जाता है, परन्तु विकार से छूटकर वह अपने ज्ञान को स्वभावोन्मुख नहीं करता, और इससे उसे धर्म नहीं होता–भवभ्रमण नहीं टलता। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अपने आत्मस्वभाव को समस्त अन्य द्रव्यों से और उन के निमित्त से होने वाले अन्य भावों से वास्तव में पृथक् देखना–अनुभवन करना–यही भवभ्रमण टालने का उपाय है।

(२२३) अज्ञानी का पागलपन

ज्ञानमूर्ति आत्मा समस्त पर द्रव्यों से भिन्न है। पर द्रव्यों से भिन्न कहने से रागादि भावों से भी भिन्न समझना चाहिए। यहाँ रागादि को भी पर द्रव्य में गिना है। आत्मा के स्वभाव से रागादि नहीं होते परन्तु पर द्रव्य के निमित्त से होते हैं–इससे वे भी पर द्रव्य हैं। अज्ञानी जीव उन्हें अपना स्वरूप मानता है। जिस प्रकार किसी को पागल कुत्ते ने काटा हो और उसका विष लागू हो गया हो, उसे मरने की तैयारी होने पर पागलपन होता है। उसी प्रकार अज्ञानी को मिथ्यात्वरूपी पागलपन लागू हो गया है–इससे वह बावरा हुआ है स्व द्रव्य और पर द्रव्य का स्वरूप क्या है–उसका भान भूल गया है, उसे अपने चैतन्य की

खबर नहीं है और बाह्य मे सुख के लिए दौड़ रहा है। उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! आत्मा की पर द्रव्यों से और पुण्य-पाप से भिन्नता है। पर को और पुण्य-पाप को जानने से वहीं रुक जाये-ऐसा तेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है। अपने परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव मे एकता करके जानना-ऐसा तेरे ज्ञान का स्वरूप है, उस स्वरूप को तू देख!

(२२४) विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है

जो आत्मस्वरूप हो वह कभी आत्मा से पृथक् नहीं होता। शुभ या अशुभ विकारभाव आत्मा का स्वरूप नहीं हैं इससे वे आत्मा से अलग हो जाते हैं अर्थात् उनका नाश हो जाता है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है उसका कभी नाश नहीं होता। विकारी भाव आत्मवस्तु के आश्रय से नहीं होते परन्तु पर वस्तु के आश्रय से होते हैं,-वे भाव आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। विकारी भावों का सम्पूर्ण अभाव होकर ज्ञान पूर्ण रह जाता है, परन्तु ज्ञान का कभी भी सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि ज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है-विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है।

भेदविज्ञान के लिए प्रेरणा

(२२५) आत्मा का सर्व पर द्रव्यों से भिन्न अनुभवन करना चाहिए

इस प्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव को समस्त पर से भिन्न देखना चाहिए। किस प्रकार देखना चाहिए?—पूर्ण

ज्ञानस्वभाव है वह मै हूँ, इस के अतिरिक्त अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ—ऐसा बराबर जानकर, परोन्मुख होते हुए अपने ज्ञान को स्वभावोन्मुख करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए। मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ, रागादि कोई भी भाव मेरे नहीं हैं, पर द्रव्यों अथवा पर भावों के आश्रित मेरा ज्ञान नहीं है-इस प्रकार पर से भिन्नत्व जानकर, वहाँ से ज्ञान को हटाकर आत्मस्वभाव के आश्रय से ज्ञान को एकाग्र करके अनुभव करना-वह अनंतकाल में न किया हुआ-ऐसा अपूर्व आत्मधर्म है। चतुर्थ गुणस्थान मे मति श्रुतज्ञान से ऐसा अनुभव होता है।

(२२६) आत्मा का किस के बिना नहीं चलता?

प्रत्येक वस्तु स्वाधीनरूप से अपना कार्य कर रही है। कभी कोई वस्तु दूसरे के साथ मिलकर कार्य नहीं करती। यह आत्मा कभी किसी पर वस्तु के कारण नहीं निभता! पर द्रव्यों का तो आत्मा मे अभाव ही है। अज्ञानी जीव को स्व-पर में एकत्वबुद्धि होने से वह ऐसा मानता है कि-मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता, परन्तु ऐसा मानने वाला अज्ञानी जीव भी प्रतिक्षण परवस्तु के बिना ही चला रहा है। पैसा, शरीरादि पदार्थ न हों उस समय क्या आत्मा का परिणमन रुक जाता है?-अथवा आत्मा का नाश हो जाता है? ऐसा तो नहीं होता। आत्मा का ज्ञान सदैव अपने स्वभाव से ही परिणमित होता है और आत्मा सदैव ज्ञान से ही जीवित रहता है। यदि ज्ञान न हो तो आत्मा

ही न हो, अर्थात् ज्ञान के बिना आत्मा का एक पल भी नहीं चल सकता। परद्रव्य और राग के बिना भी आत्मा का चलता है। सिद्ध भगवान को कहीं परद्रव्य का संयोग या राग नहीं है, अकेले ज्ञान से ही उन का आत्मा स्थित है। प्रत्येक आत्मा सदैव अपने ज्ञानस्वभाव से और पर के अभाव से ही स्थित रहता है। इस प्रकार धर्मार्थी जीवों को अपने आत्मा को सर्व पर से भिन्न ज्ञानस्वभावरूप निश्चित करना चाहिए। अपने ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करूँ वह मेरा स्वरूप है, पर से मुक्त और विकार से भी मुक्त—ऐसा मेरा परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव के आश्रय से जानना मेरा स्वरूप है,—इस प्रकार अपने आत्मा का अनुभव करना ही अनन्तकाल के जन्म-मरणों से छूटने का एक ही उपाय है।

(२२७) अधर्म क्या है और वह कैसे दूर होता है?

अपना ज्ञानस्वभाव राग रहित है, जिसे अपने ज्ञान-स्वभाव का अनुभव नहीं है वह जीव राग को अपना स्वरूप मानकर राग का कर्ता होता है, और जो राग का कर्ता होता है वह जीव ऐसा मानता है कि-मेरे राग के कारण पर द्रव्य में कार्य होता है--अर्थात् मैं पर का कर्ता हूँ। ऐसी विपरीत मान्यता में ज्ञान, राग और पर द्रव्य में एकता-बुद्धि है—वही महान अधर्म है। वह अधर्म कैसे दूर होता है? उसका उपाय यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। राग से और पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव है—उसे पहिचाने तो, राग

और पर द्रव्य में एकत्वबुद्धि टले तथा ज्ञान अपने स्वभाव-रूप हो-उसी का नाम धर्म है।

(२२८) जीव का कर्तव्य

जीव के राग का कार्य पर में नहीं होता। स्त्री, पुत्रादि जब मृत्युशय्या पर पड़े हों तब, यदि वे बच जाये तो अच्छा हो,-इस प्रकार स्वयं अत्यंत राग करता है, तथापि वे मर जाते हैं, अपने राग के कारण उस मे कुछ भी फेरफार नहीं होता। स्वयं तो पर से भिन्न है। स्वय अपने में राग कर सकता है परन्तु पर मे कुछ नहीं कर सकता—ऐसा यदि यथार्थरूप से समझे तो पर की ओर से हटकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो और राग का भी कर्ता न हो। हे भाई! तुझे प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि तेरा राग पर मे कुछ भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार पर के लिए तेरा राग व्यर्थ है, उसी प्रकार वह राग स्वयं आत्मा को भी कोई लाभ नहीं करता। यदि स्त्री-पुत्र-शरीरादि पदार्थ तेरे हों, तो उनपर तेरा अधिकार क्यों नहीं चलता? तेरी इच्छानुसार ही वे पदार्थ परिणमित क्यों नहीं होते? इस-लिए तू अपने ज्ञान मे ऐसा निर्णय कर कि—मेरा ज्ञानस्वरूप समस्त पर पदार्थों से भिन्न है, पर पदार्थों के ओर की उन्मुखता से राग की उत्पत्ति होती है—उस से भी भिन्न है, और परोन्मुख होकर जो ज्ञान राग में अटक जाता है उस से भी मेरा ज्ञानस्वरूप पृथक् है,-ऐसा जानकर अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा की ओर उन्मुख हो, उसी का अभ्यास

कर, उसी की रुचि–मथन–श्रद्धा और अनुभव कर! निरंतर यही करने योग्य है।

इस प्रकार आत्मा को सर्व पर से भिन्न बतलाकर आचार्यदेव ने उसका अनुभव करने की प्रेरणा की है।

× × ×

❁ जीव के साथ ज्ञान की एकता ❁

पर द्रव्यों से आत्मा भिन्न है–ऐसा बतलाया, तो फिर आत्मा अपने स्वरूप से कैसा है? वह अब बतलाते हैं। आत्मा का ज्ञान स्पर्शादि से भिन्न, धर्म–अधर्म–आकाश–काल से भिन्न और पुण्य–पाप से भी बिल्कुल भिन्न है–ऐसा बतलाया। अब ज्ञान अपने आत्मा से किंचित् भिन्न नहीं है, परन्तु एकमेक है–अभेद है-ऐसा बतलाते हैं। प्रथम नास्ति अपेक्षा से (पर के साथ व्यतिरेकपने से) ज्ञान का स्वरूप बतलाया, अब अस्ति अपेक्षा से (अपने साथ अन्वयपने से ज्ञान का स्वरूप बतलाकर आत्मा की पहिचान कराते हैं—"जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है इसलिए ज्ञान का और जीव का अव्यतिरेक (अभिन्नत्व) है।'

(२२९) किस ज्ञान को जीव को साथ एकता है?

जीव ही चेतन है। जो ज्ञान जीवस्वभाव की ओर ढलकर जीव के साथ अभेद हो वह ज्ञान ही चेतन है और वह स्वयं जीव है। शरीरादि पर वस्तुएँ तो जड़ हैं, उनमें

ज्ञान नहीं है; पुण्य-पापभाव भी चेतन नहीं हैं और पर लक्ष में रुककर होने वाला ज्ञान का क्षणिक विकास भी चेतन नहीं है। जिस ज्ञान से आत्मा को लाभ नही होता और जो ज्ञान आत्मा के लक्ष से एकाग्र नहीं होता वह ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है; इससे परमार्थतः वह ज्ञान आत्मा से भिन्न है। पर के लक्ष से राग की मन्दता होकर जो ज्ञान विकसित हुआ उसमें चैतन्यस्वभाव का परिणमन नही है, परन्तु कषायचक्र का परिणमन है—वह ज्ञान कषाय से पृथक् नहीं हुआ है। पर का कुछ करने की बुद्धि पूर्वक जो बाह्यकला विकसित होती है, उससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं होता—वह कला आत्मा की नहीं है। आत्मा की चैतन्यकला उसे कहते हैं कि जो ज्ञान आत्मा के साथ एकता करके आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त कराये। परन्तु जो ज्ञान राग के साथ एकता करे वह तो मिथ्याज्ञान है, और वह ससार का कारण है। ज्ञानी-धर्मी किसी जड़ पदार्थ को, विकार को या अपूर्ण ज्ञान को अपना स्वरूप नही मानते, और न उसके आश्रय मे रुकते हैं। ज्ञानी अपने स्वभाव का ही आश्रय करते हैं। स्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान विकसित हुआ वह ज्ञान आत्मा के साथ ही अभेद होता है; उस ज्ञान की और जीव की एकता है।

(२३०) धर्मी—अधर्मी का माप करने की रीति

प्रश्नः—'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह पर का कुछ नही कर सकता'—ऐसा सुनने और समझने वाले भी व्यापार—धधा

अथवा घरबार छोड़कर त्यागी तो हो नहीं जाते? जैसा व्यापार-धंधा हम करते हैं वैसा ही यह सुनने वाले भी करते है, तब फिर हम में और उन में क्या अन्तर हुआ?

उत्तरः—बाह्य दृष्टि से देखने वाले अनेक जीवों को उपरोक्त प्रश्न उठता है, उसका उत्तर समझने की मुख्य आवश्यक्ता है। जिन जीवों को स्वयं सत्य नहीं समझना है और दूसरे जो जीव सत्य को समझ रहे हों वे हमारी अपेक्षा कुछ अच्छा कर रहे हैं-ऐसा नहीं मानना है-ऐसे जीव अपने स्वच्छंद की पुष्टि के लिए बचाव करते हैं कि सत्य को समझने वाले भी हमारे ही जैसे है! स्वय अंतरंग भावों को तो समझते नहीं है इससे बाह्य सयोग देखकर उनपर से धर्म का माप निकालते हैं। ऐसे जीवों को शास्त्र मे बहिरात्मा कहा जाता है, ऐसे बहिरात्मा को ही उपरोक्त प्रश्न उठता है। उसका यहाँ समाधान करते है-"जैसा व्यापार-धधा हम करते हैं वैसा ही सत्य सुनने वाले भी करते है'-ऐसा प्रश्न किया है, परन्तु भाई! सब से पहली मूल बात तो यह है कि-बाह्य में व्यापार-धंधा आदि कोई भी जड़ की क्रियाएँ तो तू भी नहीं करता और दूसरे आत्मा भी नहीं करते। ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी आत्मा जड़ की क्रिया तो करता ही नहीं, मात्र अतरग भाव करता है, और उन अंतर के भावों पर से ही धर्म-अधर्म का माप हो सकता है। बाह्य सयोगों पर से धर्म-अधर्म का माप नहीं हो सकता। कोई जीव व्यापार-धधा, घरबार सब कुछ छोड़कर

और नग्न होकर जंगल में रहे तथापि महान अधर्मी होता है और अनंतसंसार में परिभ्रमण करता है। और किसी जीव के बाह्य में व्यापार-धंधा या राज-पाट का संयोग हो तथापि अंतर में आत्मस्वभाव का भान है, प्रतीति है, तो वैसा जीव महान धर्मात्मा और एकावतारी अथवा उसी भव में मुक्ति प्राप्त करने वाला भी होता है। इसलिए अंतरंग भावों को देखना सीखना चाहिए, बाह्य से धर्म का माप नहीं होता।

बाह्य संयोग समान होने पर भी एक को प्रतिक्षण धर्म और दूसरे को प्रतिक्षण पाप

सत्य सुनने तथा समझने वाले जीवों को और सत्य न सुनने-समझने वाले जीवों को बाह्य में व्यापारादि समान हों, तथापि सत्य समझने वाले जीव को उस समय आत्म-स्वभाव का भान है, अपने आत्मा की राग से भिन्न श्रद्धा करता है और बाह्य कार्यों को मैं कर सकता हूँ—ऐसा नहीं मानता, इससे उस के राग द्वेष अत्यंत अल्प होते हैं, और उस समय भी राग से भिन्न आत्मा की श्रद्धा होने के कारण उसे धर्म होता है, राग-द्वेष का पाप अत्यन्त अल्प है। और जिसे सत्य की दरकार नहीं है—ऐसा जीव व्यापारादि जड़ की क्रिया को अपना मानता है और उस के कर्तृत्व का अभिमान करता है—इससे उसे अज्ञान का महान पाप प्रतिक्षण बंधता है। इस प्रकार बाह्य संयोग समान होने पर भी अंतरंग में आकाश-पाताल जितनी महान असमा-

नता है, संयोगदृष्टि से देखने वाले जीव उस विभिन्नता को किस प्रकार समझेंगे ?

धर्मी जीव को काहे का त्याग होता है ?

लोगबाग झट बाह्यत्याग करना चाहते हैं, परन्तु पर पदार्थ तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं। पर पदार्थ कहीं आत्मा मे प्रविष्ट नहीं हो गये हैं कि आत्मा उनका त्याग करे ? पहले अज्ञान भाव से परद्रव्यों को अपना मानता था और उनका अहंकार करता था, परन्तु सच्ची समझ होने से ऐसा जाना कि आत्मा सर्व पर से पृथक् है, इससे तीनों लोक के सर्व पदार्थों में से अपनेपन की विपरीत मान्यता छोड़ दी—वही मिथ्यात्वरूप अधर्म का त्याग है, यह त्याग अज्ञानी को दिखाई नहीं देता। बाह्य त्याग या ग्रहण आत्मा नहीं करता, अंतर में सत्य भावों का ग्रहण और मिथ्या भावों का त्याग करे वह धर्म है।

सत्य का स्वीकार और अस्वीकार करने वाले जीवों में महान अन्तर

पुनश्च, सत्य को समझने की जिज्ञासा वाले जीव सत्य का स्वीकार करके उसका आदर करते हैं, उसकी रुचिपूर्वक समझने के लिए प्रयत्न करते हैं, और उस के लिए निवृत्ति लेकर सत्समागम करते हैं। जब कि दूसरे जीवों को सत्य समझने की दरकार नहीं है, सत्य की रुचि नहीं है, और उलटा सत्य का अनादर करते हैं। देखो ! दोनों के अंतरंग परिणामों मे कितना फेर है ! बाह्य संयोग समान होने पर

भी एक को सत्य की जिज्ञासा है और दूसरे को उसकी उपेक्षा है-तो क्या उनमें अन्तर नहीं पड़ा? एक जीव सत्य का श्रवण-मनन-भावना करने में दिन का अमुक भाग निवृत्ति लेता है और दूसरा जीव बिल्कुल निवृत्ति नहीं लेता, तब फिर क्या पहले जीव ने उतने राग का त्याग नहीं किया? श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात सुनकर रुचि पूर्वक उसका स्वीकार करने वाला जीव भविष्य में मुक्ति प्राप्त करने वाला है। एक जीव सत्य की रुचि पूर्वक 'हाँ' कहता है और दूसरा 'ना' कहता है तो दोनों में कितना अन्तर है? सत्य को स्वीकार करने वाला जीव अपनी मान्यता में तीनों काल के सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करता है और अस्वीकार करने वाला जीव अपनी मान्यता में तीन काल के असत्य का ग्रहण और सत्य का त्याग करता है;-यह अंतरंग ग्रहण-त्याग अज्ञानियों को दिखाई नहीं देता और बाह्य पदार्थों के ग्रहण-त्याग का अभिमान करते हैं।

बाह्य संयोगों में रहने वाले धर्मी क्या करते हैं?

श्रीमद् राजचंद्रजी ज्ञानी पुरुष थे, आत्मस्वभाव का भान था, तथापि गृहस्थाश्रमी थे; बाह्य में लाखों का हीरे-जवाहि-रात का व्यापार होता था, परन्तु उस समय उन के आत्मा में पर का स्वामित्व किंचित् भी नहीं था। अंतर में से शरीरादि का स्वामित्व उड़ गया था; अल्पराग था-उस के भी स्वामी नहीं होते थे। रागरहित स्वभाव के आश्रय से उन सब का ज्ञान ही करते थे। बाह्य में व्यापारादि की

क्रिया बाह्य कारणों से होती थी, अपने को पर्याय की निर्बलता से अल्पराग होता था, परन्तु उस समय भी एक क्षणमात्र को चैतन्य के स्वामित्व से च्युत नहीं होते थे और राग का या पर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते थे। अज्ञानी जीवों को तो वे बाह्य क्रियाएँ और राग करते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु ज्ञानी के अंतरस्वभाव की उन्हें खबर नहीं पड़ती। ज्ञानी तो अपने परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव के स्वामी हैं, और उस स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण प्रति पर्याय में उनके ज्ञान की विशुद्धता होती रहती है। ज्ञानी ज्ञानस्वभाव की एकता के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं करते।

पर का ग्रहण-त्याग किसी के नहीं है

इस जगत में कौन-सा जीव पैसादि वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है? और कौन-सा जीव उन्हें छोड सकता है? 'मैंने पैसा कमाया और मैंने पैसे का त्याग किया'-इस प्रकार मूढ जीव मात्र अहंकार करता है। अज्ञानी जीव भी परद्रव्यों मे कुछ नहीं करता, हाँ, वह जीव अपने में ममत्व को कम या अधिक करता है। परमार्थ से तो ममत्वभाव का ग्रहण-त्याग आत्मस्वभाव मे नहीं है।

अज्ञानी बाह्यत्यागी होने पर भी अधर्मी और ज्ञानी गृहस्थ होने पर भी धर्मी

जो जीव परद्रव्य का स्वामी होता है वह अचेतन का स्वामी होता है। अज्ञानी जीव बाह्य में सब कुछ छोड़कर जंगल में जाकर रहे-इससे उस के अंतर में से पर वस्तु का

स्वामित्व छूट गया है—ऐसा नहीं समझना चाहिए, और ज्ञानी को बाह्य में लक्ष्मी आदि का संयोग हो, इससे उसे परद्रव्य का स्वामित्व है-ऐसा नहीं समझना चाहिए। ज्ञानी जीव गृहस्थाश्रम में होने पर भी वह चैतन्य का ही स्वामी है—इससे वह धर्मी है; और बाह्यत्यागी अज्ञानी जीव पर के त्याग का अहंकार करता है—अभिमान करता है कि-मैंने परद्रव्य को छोड़ा है—उस जीव की मान्यता में अनन्त परद्रव्यों का स्वामित्व विद्यमान है-इससे वह अधर्मी है।

जिज्ञासु जीव की पात्रता और अंतर की अपूर्व धर्मक्रिया

'आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है पुण्य-पाप के आश्रय से आत्मा को लाभ नहीं है; पर वस्तुएँ आत्मा से बिलकुल भिन्न हैं, आत्मा उनका कुछ भी नहीं कर सकता'—इस प्रकार ज्ञानी के पास से जो सत्य को समझने की जिज्ञासा करता है उस जीव के राग की बहुत कुछ मंदता हो गई है। बारम्बार वीतरागस्वभाव का श्रवण करने से उसका अस्वीकार नहीं करता और रुचिपूर्वक स्वभाव को समझने के लिए समय व्यतीत करता है उस जीव को प्रतिक्षण मोह की मंदता होती जाती है। दूसरे जीव को सत्स्वभाव की बात ही रुचिकर नहीं लगती और उलटी अरुचि होती है उसके मोह की दृढता होती जाती है। निवृत्तस्वरूप रागरहित-आत्मस्वभाव की बात का बारम्बार परिचय करना अच्छा लगता है तो उस जीव को अंतर में वीतरागता और निवृत्ति

रुचिकर प्रतीत हुई है अथवा नहीं ? और उतने अंश मे राग से तथा संसार से उसकी रुचि छूट गई है या नहीं ? बस, इसमे स्वभाव के लक्ष से तीव्र कषाय छूटकर मंदकषाय होगई वह शुभक्रिया है, उस शुभ से भी आत्मस्वभाव अलग वस्तु है-इस प्रकार बारम्बार राग रहित स्वभाव की भावना करने से स्वभाव की ओर ज्ञान की अंशतः एकाग्रता होती जाती है-उतनी ज्ञानक्रिया है, वह राग रहित है और धर्म का कारण होती है। इस प्रकार स्वभाव की रुचि का मंथन करते करते जैसा परिपूर्ण स्वभाव है वैसा यथार्थ समझ जाए और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट करे वह अपूर्व धर्मक्रिया है। वह क्रिया अनंत जन्म-मरण का नाश करने वाली है। अनादिकाल में कभी भी ऐसी क्रिया एक क्षणमात्र भी जीव ने नहीं की है। यदि एक क्षण भी ऐसी सच्ची समझरूपी क्रिया करे तो जीव की मुक्ति हुए बिना न रहे।

सत् की रुचि ही धर्म का कारण है

पैसा किस प्रकार कमाया जाय-ऐसी बात ज्ञानी नहीं करते, परन्तु मात्र सत्स्वभाव की वीतरागी बात कहते हैं; उसे सुनकर कितने ही जीवों को उसका बहुमान आता है, और अनेक जीव उसे सुनना ही नहीं चाहते-तो उन दोनों में कितना अन्तर है ? जिसे सत्स्वभाव की बात नहीं रुचती वह जीव तो सत सुनने मे भी नहीं रुकता और न उस मे सत् समझने की पात्रता है। जो जीव सत् को रुचिपूर्वक बारम्बार श्रवण-मनन करता है वह जीव बाह्य मे भले ही

व्यापार-धंधा या घरबार का राग न छोड़ सके, तथापि उसका भाव पहले जीव की अपेक्षा उत्तम है, और उसमें सत् को समझने की पात्रता है। दोनों जीवों के बाह्य में व्यापारादि होने पर भी एक को राग रहित स्वभाव रुचिकर लगता है, और दूसरे को व्यापारादि और राग की ही रुचि है। यह रुचि का फेर है। रुचि ही धर्म और अधर्म का कारण है। स्वभाव की रुचि धर्म का और संयोग की रुचि अधर्म का कारण है।

जिन जीवों को सत्य आत्मस्वभाव को समझने की जिज्ञासा हुई है, और उसके लिए बारम्बार सत्समागम में रुकते हैं-ऐसे जीवों को अपूर्व आत्मधर्म कैसे प्रगट होता है-वह बात यहाँ आचार्यभगवान समझाते हैं। पर से भिन्न चैतन्यस्वभाव का निर्णय करने से अपने में स्वभाव की परिपूर्णता माने वही अपूर्णता और विकार का नाश करने का उपाय है। अपूर्ण दशा जितना या विकार जितना अपने आत्मा को न मानकर, परिपूर्ण स्वरूप से स्वीकार करना ही प्रथम अपूर्व धर्म है।

(२३१) हे जीव! शरीर से भिन्न चैतन्य की शरण ले!

हे भाई! जिस शरीर को तू अपना मान रहा है उस शरीर पर भी तेरा अधिकार नहीं चलता, तब फिर जो पदार्थ प्रत्यक्षरूप से दूर हैं उन मे तेरा कैसे चल सकता है? तू पर का कुछ भी नहीं कर सकता, परपदार्थ तुझ से

पृथक् है इसलिए उन पदार्थों के आश्रय से जो मोहादिभाव होते हैं वे भी तेरे स्वरूप से भिन्न हैं। इन सब से भिन्न-अपने चैतन्यतत्त्व को तू पहिचान, तो उस के आश्रय से तुझे धर्म और शांति प्रगट हो। शरीर की अँगुली टेढ़ी हो जाये, कांपने लगे, लकवा लग जाये अथवा अन्य कोई भी रोग हो, उस समय उसे मिटाने की तेरी तीव्र इच्छा होने पर भी तेरी इच्छानुसार शरीर का कार्य नहीं होता, इसलिए हे भाई! तू समझ ले! अंतर में देख कि तेरा स्वभाव उस शरीर और उस की ओर की इच्छा से भिन्न है; इसलिए उन का आश्रय छोड़ और अपने नित्यस्थायी चैतन्यस्वभाव का-आश्रय कर! उसी को शरण ले! वर्तमान अपूर्णदशा में राग होने पर भी तू अपने ज्ञान में ऐसा निर्णय और श्रद्धा कर कि वह राग और अपूर्णता मैं नहीं हूँ, मै तो उस राग और अपूर्णता से रहित पूर्ण ज्ञानस्वभावरूप हूँ। यदि तू ऐसा निर्णय करेगा तो तुझे अंतर में रागरहित आत्मा को समझने का अवकाश रहेगा—अर्थात् राग और शरीर से भिन्नत्व का भान जागृत रहेगा। जीवन में शरीर से भिन्न चैतन्य का भान किया होगा तो शरीर छूटने के (मृत्यु के) प्रसंग पर मूर्च्छित नहीं होगा और शरीर से भिन्न चैतन्य की जागृति रहेगी तथा आत्मा के भानपूर्वक समाधि होगी। अहो! मैं चैतन्यभगवान हूँ, शरीर से पृथक् हूँ—ऐसा जिसने भान किया है उसे शरीर से मुक्त होने का (जन्म-मरण रहित होने का) अवसर आयेगा। शरीर में ही जो एकता मान बैठा है वह तो शरीर से ही मूर्च्छित हो

जायेगा और पुनः पुनः नवीन शरीर धारण करके अनंत जन्म-मरणों में भटकेगा। मेरे चैतन्यतत्त्व का शरीर से संबंध ही नहीं है-ऐसी श्रद्धा करने वाला जीव अल्पकाल में अशरीरी-सिद्ध होगा।

चैतन्यजाति को शरीर से और विकार से भिन्न जानकर, तीनकाल के सर्व पदार्थों से मैं पृथक् हूँ-ऐसा समझकर अपने ज्ञान को स्वभाव में एकाग्र करके जो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करता है उसे अपूर्व धर्म प्रगट होता है। उस जीव के ज्ञान में स्वभाव की एकता का ग्रहण हुआ और सर्व परपदार्थों के अभिमान का त्याग हुआ।

(२३२) शरीर में रोग हो तब आत्मा को क्या करना चाहिए?

प्रश्नः—आत्मा चैतन्यस्वरूप है और शरीर से भिन्न है-यह बात तो हम मानते हैं, परन्तु जब शरीर मे रोग हो तब हमें उस की दवा तो करना चाहिए या नहीं?

उत्तरः—आत्मा शरीर से भिन्न है और शरीरादि पर द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता-ऐसा वस्तुस्वरूप समझ में आया हो तो उपरोक्त प्रश्न उठने का अवकाश ही नहीं रहता। 'आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है परन्तु शरीर का कर्ता है'-ऐसी जिस की अज्ञानबुद्धि है उसी को उपरोक्त प्रश्न उठता है। 'दवा करना या न करना'-ऐसा प्रश्न कब उठता है? यदि दवा की क्रिया आत्मा के आधीन हो तो यह प्रश्न उठता है। जो कार्य करने के लिए स्वयं समर्थ

नहीं है उस के संबंध मे 'मुझे यह करना या न करना' ऐसा प्रश्न ही नहीं होता। शरीर की अथवा दवा लाने की क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता। आत्मा तो स्व-पर का ज्ञान करता है, और अधिक तो अपने में राग-द्वेष-मोहभाव करता है। जिसे शरीर पर का राग हो ऐसे जीव को दवा करने का विकल्प आता है, परन्तु दवा तो यदि आना हो तो स्वयं उस के अपने कारण से आती है, आत्मा पर मे एक अणुमात्र भी फेरफार नहीं कर सकता। यहाँ तो आचार्यदेव यह बात समझाते हैं कि जो रागभाव होते हैं वह करने का भी आत्मा का कार्य नहीं है, और अपने को भूलकर पर को जानने मे रुके-ऐसा ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जाने वह ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। जड़ शरीर की और दवा करने की बात तो दूर रही, जड़ की अवस्थाएँ प्रतिक्षण जैसी होना हों वैसी जड़ के स्वभाव से होती ही रहती हैं, अज्ञानी जीव अपने ज्ञातास्वभाव को भूलकर उसका अभिमान करता है, ज्ञानी जीव उस से भिन्नत्व जानकर अपने ज्ञानस्वभाव को ओर उन्मुख होता है, और राग तथा पर का ज्ञाता रहता है।

दवा को, शरीर को, राग को और आत्मा को-सब को एकमेक माने उस जीव को ऐसा प्रश्न उठता है कि-'शरीर मे बुखार आये तब मुझे दवा करनी चाहिए या नहीं?' परन्तु भाई! तू विचार तो कर कि 'तू यानी कौन? और 'दवा करने का मतलब क्या?' तू अर्थात् ज्ञान और दवा

का अर्थ है अनन्त जड़ रजकण। क्या तेरा ज्ञान उन जड़ रजकणों की क्रिया करता है? 'मुझे खरगोश के सींग काटना चाहिए या नहीं?' ऐसा प्रश्न ही कब उठ सकता है? यदि खरगोश के सींग हों तो यह प्रश्न उठे, परन्तु खरगोश के सींग ही नहीं हैं तो फिर उन्हें काटने या न काटने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार यदि आत्मा परवस्तु का कुछ कर सकता हो तो 'मुझे करना चाहिए या नहीं'-ऐसा प्रश्न उठे वह ठीक है। परन्तु आत्मा पर का कुछ कर ही नहीं सकता, तब फिर 'मैं पर का करूँ' अथवा 'मैं पर का न करूँ'-यह दोनों मान्यताएँ मिथ्या हैं।

(२३३) सत्य को समझना वीतरागता का कारण है

'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पर का कुछ नहीं कर सकता, जड़ की क्रियाएँ अपने आप जैसी होना हों वैसी होती रहती हैं'—ऐसा समझकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होना और पर से उदासीन होना वह प्रयोजन है। परन्तु स्वच्छन्द का सेवन करके विषय-कषायों की पुष्टि की यह बात नहीं है। यह तो ऐसी अपूर्व बात है कि यथार्थ समझे तो वीतरागता हो जाये। प्रथम श्रद्धा मे वीतरागता हो और फिर चारित्र में वीतरागता हो जाये। कोई जीव स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायों की पुष्टि करे तो वह सत्य को समझने का फल नहीं है, परन्तु वह जीव सत्य को नहीं समझा है इससे उसकी नासमझी का ही वह फल है। उसमें सत्य का किंचित् दोष नहीं है। सत्स्वभाव समझे और विषय-कषायों की वृद्धि हो-ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्स्वभाव की समझ तो वीतरागता का ही कारण है।

(२३४) चैतन्य से च्युत होकर जो जड़ में सुख मानता है वह वेगारी है

अहो! जगत के जीव अपने चैतन्यसुख को भूलकर विषय-कषायों में सुख मान रहे हैं। विषय-कषाय की रुचि वाले जीव, जिसके पास अधिक लक्ष्मी आदि के संयोग हों उसे अधिक सुखी मानते हैं; उससे 'सेठजी' आदि कहकर अंतर से उसका बहुमान करते हैं। परन्तु अपनी जो चैतन्य-जाति है-ज्ञानस्वभाव की संपत्ति है उसके संभालने का जिन्हें अवकाश नहीं है, चैतन्यलक्ष्मी को भूलकर बाह्य में सुख मान रहे हैं वैसे जीवों से ज्ञानीजन 'सेठ' (श्रेष्ठ) नहीं कहते, परन्तु लक्ष्मी के 'वेगारी' कहते हैं। जिसे अपनी श्रेष्ठ चैतन्यलक्ष्मी का भान है वही सेठ (श्रेष्ठ) है। परन्तु जो अपनी श्रेष्ठता को भूलकर, अपने सुख के लिए लक्ष्मी का आश्रय लेता है वह वास्तव में वेगार ही करता है, उसका जीवन व्यर्थ ही चला जायेगा, उसे चैतन्य के केवलज्ञान-रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होगी। शरीर-पैसादि से तथा पुण्य-पाप से भिन्न और उस ओर ढलने वाले क्षणिक ज्ञान जितना भी नहीं-ऐसे अपने पूर्ण चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करके उसके अनुभव में ज्यों ज्यों ज्ञान स्थिर होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान की शुद्धता और वीतरागता में वृद्धि होती जाती है और अन्त मे परिपूर्ण ज्ञान प्रगट होकर आत्मा भगवान हो जाता है, मुक्त हो जाता है, इसलिए चैतन्यस्वभावी आत्मा की पहिचान करना चाहिए।

[९]

उत्तम क्षमा धर्म का दिन

卐 वीर सं. २४७४ भाद्रपद शुक्ला ५ मंगलवार (चतुर्थी का क्षय) 卐

(२३५) पर्यूषण धर्म

सनातन जैनदर्शन के नियमानुसार आज से पर्यूषण पर्व का प्रारम्भ होता है। सच्चा पर्यूषण अर्थात् दश लक्षण धर्म का आज प्रथम दिवस है। अनादि से तीर्थंकरों के मार्ग का जो प्रवाह चल रहा है उसमें आज से प्रारम्भ करके दस दिन तक पर्यूषण पर्व है। आज उत्तमक्षमा धर्म का दिन है-इस प्रकार आज का दिन मांगलिक है, वार भी मंगल है, और अधिकार भी मांगलिक है। आत्मा का मंगल कैसे होता है, आत्मा को धर्म कैसे होता है-उसकी बात चल रही है।

(२३६) धर्म का सम्बन्ध किसके साथ है?

धर्म स्वयं ही मांगलिक है। धर्म आत्मा की निर्दोष पर्याय है, उसका सम्बन्ध आत्मा के स्वभाव के साथ है। आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है वह जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। शरीर-मन-वाणी तो जड़ हैं, वे तो आत्मा से पृथक् हैं, और दयादि भावों के साथ भी आत्मा के धर्म

का सम्बन्ध नहीं है। दया अथवा हिंसा के भाव स्वयं दोषरूप हैं, इससे आत्मा के स्वभाव से वे पृथक् हैं। उन विकारी भावों से आत्मा का ज्ञान पृथक् है। ज्ञान को पर से भिन्न बतलाकर अब, आत्मा के साथ एकरूप बतलाते हैं। यह जानने से ज्ञान की उन्मुखता पर की ओर से हटकर आत्मा की ओर होती है—वही धर्म है।

(२३७) ज्ञान की पर से भिन्नता और जीव के साथ एकता

पर द्रव्यों से तो ज्ञान को बिल्कुल पृथक् बतलाया, और कर्म के लक्ष से प्रवृत्ति होने से जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं वह अध्यवसान है, वह अचेतन है; वह अध्यवसान और ज्ञान भिन्न हैं-ऐसा कहकर अंतर के पुण्य-पाप भावों को भी ज्ञान मे से निकाल दिया है। तब फिर ज्ञान का स्वरूप क्या है वह कहते हैं।

अब, "जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान को और जीव को अव्यतिरेक है, अर्थात् ज्ञान की और जीव की एकता है।" ज्ञान है वह जीव ही है, परन्तु ज्ञान है वह रागादि नहीं है, इसलिए जीव का आश्रय करके जो ज्ञान होता है वही सच्चा ज्ञान है, परन्तु राग का आश्रय करके जो ज्ञान हो वह अचेतन है—अज्ञान है। जीव का ज्ञानस्वभाव है, जीव चेतनस्वरूप होने से वह स्वयं ही ज्ञान है। पर को जिलाने या मारने की क्रिया तो आत्मा कभी कर ही नहीं सकता; पर जीव

अपनी आयु के अनुसार ही जीते-मरते हैं। और जो पुण्य-पापरूप भाव होते हैं वे स्वयं आत्मा नहीं हैं, उनमें आत्मा का ज्ञान नहीं है और न उनमें आत्मा का कल्याण है।

(२३८) जागृत चैतन्यसत्ता

जीव स्वयं चैतन्य है, जागृत सत्ता से स्व-पर का ज्ञाता है। चैतन्य में सब को जानने की सत्ता है, परन्तु बोलने-चालने की अथवा पर का भला-बुरा करने की सत्ता नहीं है। यहाँ किसी को प्रश्न उठे कि जीव दिखलाई क्यों नहीं देता? उसका उत्तरः—यह बाह्य में शरीरादि जो कुछ ज्ञात होते हैं वे कहाँ ज्ञात होते हैं? चैतन्य की सत्ता में ही ज्ञात होते हैं या उससे बाहर? जो कुछ ज्ञात होता है वह वास्तव में आत्मा का उस प्रकार का ज्ञान ही ज्ञात होता है। इस जगत में यदि आत्मा का ज्ञान न हो तो शरीरादि दृश्य पदार्थों को कौन जानेगा? मुझे परवस्तु ज्ञात होती है-ऐसा निश्चय करते ही-'मै ज्ञातास्वरूपी आत्मा हूँ'-ऐसा उस मे आजाता है, परन्तु स्वयं अपने स्वभाव को स्वीकार न करके मात्र पर का ही स्वीकार करता है इस से स्वयं को अपना ही स्वभाव ज्ञात नहीं होता-इसका नाम अज्ञान है-अधर्म है-दुःख है। पर को जानने वाला मेरा ज्ञान मेरे आत्मा के आधार से होता है; मै ज्ञानस्वरूप हूँ-इस प्रकार ज्ञान और आत्मा की एकता मानकर आत्मस्वभाव का आदर करे तो ज्ञान पुण्य-पाप की रुचि से हटकर स्वभाव में एकता करे-इस से अज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान हो-धर्म

हो–सुख हो। ऐसे सम्यग्ज्ञान को और जीव को किंचित्‌मात्र भिन्नत्व नहीं है।

(२३९) आत्मा के ज्ञानस्वभाव का सामर्थ्य

आत्मा का ज्ञान शब्दादि से भिन्न अरूपी है। सम्पूर्ण लोकालोक को एक साथ जाने, तथापि उस में भार नहीं लगता। वह अरूपी अर्थात् सूक्ष्म है, इस से इन्द्रियों से अथवा राग से ज्ञात हो वैसा नहीं है। और ज्ञान अपने स्वरूप में रहकर सब को जानता है। दूरवर्ती पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को दूर नहीं जाना पड़ता। पचास वर्ष पूर्व की किसी बात को जानने के लिए ज्ञान को पचास वर्ष जितना समय नहीं लगता, परन्तु वर्तमानरूप रहकर स्वयं तीन काल को जान लेता है। सबको एक ही साथ जाने वैसा स्वभाव है, परन्तु जानने में 'यह अच्छा और यह बुरा'– इस प्रकार राग–द्वेष करके रुकना ज्ञान का स्वरूप नहीं है। जो ज्ञान राग–द्वेष पूर्वक जाने वह वास्तव में चैतन्यस्वभाव नहीं है। राग–द्वेष को जानते समय भी उस से एकता किये बिना-पृथक् रहकर जाने–ऐसा सम्यग्ज्ञान का स्वभाव है। पूर्व के विकारी भावों को याद करने से ज्ञान में वह विकार नहीं आजाता। ज्ञान का स्वभाव विकार रहित है, वह विकार को जानने वाला है, परन्तु स्वयं विकार रहित है। ज्ञान स्वयं विकार रहित होने से विकार के द्वारा ज्ञानस्वरूप ज्ञात नहीं होता, अरूपी होने से किन्हीं इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात नहीं होता, परन्तु इन्द्रियों के अवलम्बन रहित और विकार से

भी भिन्न ऐसे ज्ञान द्वारा ही आत्मस्वरूप ज्ञात होता है। जितने अंश में ज्ञान आत्मा में स्थित हुआ है उतने ही अंश में वह विकार रहित और अतीन्द्रिय हुआ है।

पुण्य-पाप हों उन्हें ज्ञान व्यवहार से जानता है, क्योंकि पर सन्मुख–पुण्य-पाप सन्मुख होकर ज्ञान नहीं जानता है, परन्तु अपने स्वभावसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव को जानने से उस में परवस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं। इसलिए परमार्थ से तो ज्ञान अपने स्वभाव को ही जानता है; पर को जानता है वह व्यवहार है।

(२४०) ज्ञान और आत्मा की एकता के विश्वास में आने वाले उत्तम क्षमादि धर्म

जीव चेतन है. जीव को और ज्ञान को किंचित पृथक्त्व नहीं है। इस प्रकार अपना ज्ञातास्वभाव निश्चित करके स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान आत्मा के साथ अभेद है। इस प्रकार ज्ञान को आत्मोन्मुख करके निर्णय करने वाले ने पूर्ण आत्मस्वभाव को श्रद्धा में लिया है, और अपने आत्मा को मिथ्यात्वभावरूप अधर्म से बचा लिया है—इससे सम्यक्त्वरूपी धर्म हुआ। पहले आत्मा को विकारी मानकर पूर्णस्वभाव की हिंसा करता था, अब, जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है वह मैं हूँ और विकार का एक अंश भी मैं नहीं हूँ—ऐसी प्रतीति से अपने शुद्धस्वभाव को विकार से बचा लिया इस का नाम परमार्थ अहिंसा है। विकार की रुचि थी उस समय आत्मा की अरुचि थी; अब ज्ञान और आत्मा

की एकता की रुचि होने से विकार की रुचि दूर हुई—इससे स्वभाव की अरुचिरूप अनन्तानुबंधी क्रोध दूर होकर उत्तम क्षमा धर्म प्रगट हुआ। पहले तो जो पुण्य-पाप होते थे उन्हीं को आत्मा मान लेता था, इससे उन पुण्य-पाप से पृथक् आत्मा की खबर नहीं थी। पुण्य-पाप से भिन्न आत्म-स्वभाव का भान होते ही तुरन्त सारे पुण्य-पाप दूर नहीं हो जाते परन्तु पुण्य-पाप होने पर भी—वह मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ—इस प्रकार पुण्य-पाप से पृथक्त्व की और ज्ञान के साथ एकत्व की प्रतीति स्थिर रखता है; इस प्रतीति के बल से प्रति समय शुद्धता मे वृद्धि होती जाती है। आत्मा को पुण्य-पाप वाला माननेरूप मिथ्या मान्यता में आत्मा की हिंसा थी, उस मिथ्या मान्यता से आत्मा को छुड़ा लिया उस का नाम आत्मदया है। आत्मा पर को तो बचा या मार नहीं सकता। इस शरीर का भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता। जीने की इच्छा होने पर भी शरीर को नहीं रख सकता, तब फिर पर को तो कहाँ से बचा सकता है? आत्मा को पर से तो परिपूर्ण पृथक्त्व है और अपने ज्ञान के साथ परिपूर्ण एकता है, बिलकुल भिन्नता नहीं है। इस सम्बन्ध में किंचित् शंका नहीं करना चाहिए—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

❀ ज्ञानस्वभाव में निःशंक होने का उपदेश ❀

पुनश्च, "ज्ञान का जीव के साथ व्यतिरेक किंचित् भी शंकनीय नहीं है, अर्थात् ज्ञान की जीव से भिन्नता

होगी !-ऐसा बिलकुल शंका करने योग्य नहीं है, क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है।" सम्यग्दृष्टि को निःशंकता होती है; यहाँ सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग की बात रखी है।

(२४१) स्वभाव की निःशंकता में आने वाले अहिंसा और सत्य धर्म

ज्ञान है वह आत्मा ही है-ऐसा निःशंक मानने योग्य है, उसमें किंचित् शंका करने योग्य नहीं है। ज्ञान की वर्तमान दशा आत्मा में अभेद होकर पूर्ण द्रव्य ज्ञात हो वह आत्मा है। ऐसे आत्मा को निःशंक मानना वह अहिंसा है; और पर में या पुण्य-पाप में आत्मा को मानना वह हिंसा है। ज्ञान है वह आत्मा है-ऐसा कहने से उसमें भेद की बिलकुल शंका नहीं करना चाहिए। जानने वाला ज्ञान आत्मा से किंचित् भी भिन्न होगा-ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। किसी पर के कारण ज्ञान होता होगा-ऐसा नहीं मानना चाहिए। रागादि भावों में ज्ञान होगा-ऐसी शंका बिलकुल नहीं करना चाहिए। ज्ञान और आत्मा एक ही है-ऐसी निःशंक श्रद्धा करना चाहिए;—ऐसी श्रद्धा है वह धर्म है। ऐसी श्रद्धा करने वाले ने जैसा है वैसा स्वरूप माना है,-इससे यह सत्यवादी हुआ है।

(२४२) स्वभाव की निःशंकता में आने वाला अचौर्य धर्म

'क्या आत्मा मात्र जानने का ही कार्य करता है? या पर का कुछ करता होगा! या राग भी करता होगा!' ऐसी

बिलकुल शका नहीं करना चाहिए। आत्मा चैतन्यस्वभाव ही है-ऐसा निःशक मानकर आत्मा को स्वभाव में स्थिर करना और पर द्रव्य को अपने में स्वीकार न करना वह अचौर्यधर्म है। परद्रव्य अपना नहीं है, फिर भी उसे अपना मानना वह चोरी है ज्ञान पर से बिलकुल भिन्न है और आत्मा से विलकुल भिन्न नहीं है-ऐसा मानने वाले ने अपने आत्मा को चोरी के भावों से बचाया है। ऐसे आत्मस्वरूप की श्रद्धा मे धर्म है, वाह्य मे मदिर, शास्त्रादि मे कहीं धर्म नहीं है। जड़ वस्तु को अथवा विकारी भावों को अपना स्वरूप मानना वह मिथ्या मान्यता है, उस में त्रिकाल के पदार्थों की चोरी है।

परायी वस्तु को ग्रहण करे उस को चोर कहते हैं। पर वस्तु अपनी नहीं है तथापि उसे अपना माने वह जीव चोर है। जैसे नदी मे पानी बहता जा रहा हो, वहाँ कोई ऐसा माने कि-'यह पानी मेरा है'-तो वह असत्यरूप है। उसी प्रकार इस जगत मे समस्त वस्तुएँ अपने परिणमन—प्रवाह मे परिणमित होती रहती है और पुण्य-पाप भाव भी होकर दूसरे ही क्षण मिट जाते हैं। उन पर वस्तुओं को या क्षणिक भावों को जो आत्मा अपना स्वरूप मानता है वह आत्मा का हिंसक, असत्य का सेवक और चोर है। पैसे को अपना मनवाये अथवा पैसा खर्च करने के भाव को धर्म मनवाये वह भी चोर है, आत्मा का हिसक है।

पर का कुछ करने का या विकार करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान है वह जीवतत्व है और क्षणिक विकार है

वह आस्रवतत्त्व है। उन दोनों को एकमेक मानने वाला जीव अपने स्वभाव की और देव-शास्त्र-गुरु की भी परमार्थ से आशातना करने वाला है, उसे मिथ्यात्व का महान पाप है।

(२४३) स्वभाव की निःशंकता में आने वाला ब्रह्मचर्य धर्म

रागादिक से भिन्नत्व जानकर आत्मा और ज्ञान की एकता मानने वाला सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हो, तथापि वह जीव श्रद्धा की अपेक्षा ब्रह्मचारी है। पहले पर संयोग और विकार के साथ आत्मा की एकता मानकर उस में युक्त होता था वह मैथुन-सेवन था। अब, ज्ञान और आत्मा में एकत्व की श्रद्धा करके विकार और संयोगों से पृथक्त्व जाना-इस से उसने आत्मा के साथ एकता करके पर के साथ की एकता-रूप युक्तता को तोड़ दिया-वह परमार्थ से ब्रह्मचारी है।

(२४४) स्वभाव की निःशंकता में आने वाला अपरिग्रह धर्म

मैं ज्ञानमात्र हूँ; इसके अतिरिक्त पर का एक अंश भी मेरा नहीं है-ऐसा मानने वाले जीव वास्तव में अपरिग्रही हैं। उन्हें बाह्य में चक्रवर्ती राज्य का संयोग होने पर भी अन्तर के अभिप्राय में एक अंश को भी अपना नहीं मानते, ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अंशमात्र भी एकता नहीं मानते, इससे ज्ञानी उन्हें निष्परिग्रही कहते हैं। और जिसने आत्मस्वभाव में एकता प्रगट नहीं की है तथा बाह्य

पदार्थों मे अंशमात्र भी एकता है वह जीव बाह्य में त्यागी हो तथापि अनंत परिग्रही है।

(२४५) उत्तमक्षमा धर्म

उत्तम क्षमादि दस धर्म अनादिकालीन हैं। उनमें से आज उत्तमक्षमा धर्म का दिन है। मैं त्रिकाल अशरीरी, निर्विकारी तत्व हूँ, ज्ञान के साथ अभेद हूँ—ऐसी रुचि और प्रतीति करना वह महान क्षमा है। कोई आकर गालियां दे अथवा मारे उस समय क्रोध न करना—वह तो शुभराग है; ऐसी क्षमा की यहाँ बात नहीं है। आत्मा को विकारयुक्त और शरीरयुक्त माने—उसने आत्मा के स्वभाव पर अनंत क्रोध किया है, और जो आत्मा को ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण माने उसने अपने आत्मा पर उत्तमक्षमा की है।

(२४६) निःशंकता का फल केवलज्ञान और शंका का फल अनंतसंसार

जिसने आत्मा और ज्ञान में किंचित् भी भिन्नत्व माना वह जीव ज्ञान से अलग का अलग रहेगा अर्थात् विकार में एकता करके वह अनंतसंसार मे परिभ्रमण करेगा, वह अपने ज्ञान को आत्मा मे अभेद नहीं करेगा। और जिसने आत्मा तथा ज्ञान की सम्पूर्ण एकता मानी है वह जीव पर्याय पर्याय मे आत्मा में ज्ञान की एकता करता है और विकार से अलग ही रहता है। वह जीव अल्पकाल में ही ज्ञान और आत्मा को सम्पूर्ण एकता प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त होगा।

आत्मा और ज्ञान में किंचित् भेद नहीं है-ऐसी निःशंक दृष्टि हुई है वह जीव किसी भी प्रसंग पर आत्मा को ज्ञान से भिन्न नहीं मानता इससे कभी भी आत्मस्वभाव का आश्रय नहीं छोड़ता और विकार के साथ ज्ञान की एकता कभी नहीं मानता, वह किसी भी समय आत्मा को विकार वाला नहीं मानता; इससे उस जीव का ज्ञान प्रतिक्षण आत्मस्वभाव के साथ एकमेक होता जाता है और विकार से छूटता जाता है-इससे उसे प्रति समय ज्ञान और वीतरागता की वृद्धि होती जाती है,-इसका नाम साधकदशा है। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि वाणी के कारण ज्ञान होता है;-इससे उन्होंने आत्मा के साथ ज्ञान की एकता नहीं मानी, ज्ञान को आत्मा के साथ एकमेक नहीं किया, किन्तु परद्रव्य के साथ एकता मानकर विकार के साथ ज्ञान को जोड़ दिया, वह जीव आत्मा के ज्ञानस्वभाव की हत्या करने वाला-आत्मघाती है। उसने ज्ञान को आत्मा से पृथक् माना है-इससे उसके आत्मा को ज्ञान से अत्यंत वियोग (एकेन्द्रिय दशा) हो जायेगी। ज्ञान की और आत्मा की ही एकता है, इससे ज्ञान आत्मा के आश्रय से ही स्व-पर का ज्ञाता है, रागादि का कर्ता नहीं है,-इसमें जो जीव बिलकुल शंका नहीं करता उसके ज्ञान को आत्मा से बिलकुल भिन्नता नहीं रहेगी और विकार का किंचित् भी संबंध नहीं रहेगा-अर्थात् उसका ज्ञान आत्मा के आश्रय से ही परिपूर्णतया परिणमित होकर केवलज्ञान प्रगट होगा और विकार का सर्वथा अभाव हो जायेगा।

आचार्यभगवान कहते हैं कि आत्मा और ज्ञान मे

पृथक्त्व होगा ऐसी शंका किंचित्मात्र नहीं करना चाहिए। ऐसी आत्मस्वभाव की निःशंकता मोक्ष का मार्ग है। बस, जानना ही आत्मा है, अर्थात् अंतरस्वभावोन्मुख होकर स्व से अभेद हुआ वह ज्ञान ही आत्मा है–ऐसी निःशंक श्रद्धा हुई वहीं ज्ञान विकार से अलग होकर स्वोन्मुख हुआ–भेद-ज्ञान हुआ–इससे अब पर्याय पर्याय में ज्ञान और आत्मा की अभेदता बढते बढ़ते और राग दूर होते होते वीतरागता और केवलज्ञान हो जायेगा।

आत्मा पर का कुछ करता है, अथवा पर वस्तु आत्मा का कुछ करती है ऐसा मानना वह अज्ञान है, अधर्म है। उसी प्रकार जैसे संयोग आये वैसा ही ज्ञान होता है–अर्थात संयोगों के आधार से ज्ञान होता है–ऐसा जो मानता है उसने वास्तव मे आत्मा और ज्ञान को एक नहीं माना है, परन्तु पृथक् माना है, और पर संयोगों में ज्ञान की एकता मानी है, उस जीव का ज्ञान चेतनस्वभाव की एकता रहित होने से और संयोगों के साथ एकता का अभिप्राय वाला होने से, वास्तव मे अचेतन है।

ज्ञान की जिस अवस्था ने संयोग में–राग में एकता की है वह आत्मा नहीं है। क्योंकि उस अवस्था ने आत्मा से भिन्नत्व माना है–इससे वह अवस्था आत्मस्वभाव मे एकता करके स्थिर नहीं होगी और आत्मानुभव के आनंद को नहीं भोग सकेगी, परन्तु वह अवस्था अपने ज्ञान को आत्मा के बाहर फिरा रही है, इससे बाह्य के लक्ष से मात्र आकुलता का ही उपभोग करेगी।

(२४७) स्वभाव की निःशंकता ही कर्तव्य है

प्रश्नः- इसमें क्या करना कहा जाता है—वह संक्षेप में समझाइये ?

उत्तरः—आत्मा ज्ञानस्वरूपी है और पुण्य–पाप आत्मा का स्वरूप नहीं है,-ऐसी निःशंक श्रद्धा करके ज्ञान-स्वभाव के साथ वर्तमान पर्याय की एकता करना और पुण्य–पाप से भेदज्ञान करना–यही करना है। जिसने ज्ञान और आत्मा के पृथक्त्व की किंचित्मात्र शंका नहीं की, अर्थात् ज्ञान का पर के या विकार के साथ किंचित् सम्बन्ध नहीं माना-वह जीव अपने ज्ञानस्वभाव में निःशंक हुआ–निडर हुआ–धर्मी हुआ। ऐसे अपने आत्मा की निःशंक श्रद्धा करना ही धर्म का मूल है। पहले वह जीव अपने को संयोगाधीन मानता था, अब स्वभावाधीन हुआ। अब चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग आएँ–उनसे भिन्नता जानकर, स्वभाव में निःशंक और निर्भय रहकर प्रतिक्षण आत्मशांति की वृद्धि पूर्वक समाधिमरण करके एकावतारी होजाय–उसके उपाय का यह कथन है।

(२४८) निःशंकता मुक्ति का उपाय है

त्रिलोकपूज्य श्री तीर्थंकरदेव और आत्मानुभव में झूलते हुए संत–मुनिवर पुकार करते हैं कि–हे भव्य! तेरे ज्ञान को तेरे स्वभाव से किंचित् भिन्नत्व नहीं है, और तेरे ज्ञान की हमारे साथ किंचित् एकता नहीं है। तू हमसे अलग है, हमारा तुझे बिलकुल आश्रय नहीं है; अपने ज्ञान-

स्वभाव के साथ ही तुझे एकता है, अपने आत्मस्वभाव से तू ज्ञान को किंचित् भी अलग मानेगा तो नहीं चलेगा, ज्ञान और आत्मा की सर्व प्रकार से एकता मानकर, राग से पृथक् होकर स्वभाव मे ही ज्ञान को युक्त कर, इसमें किंचित्‌मात्र भी शंका न कर—यही मुक्ति का उपाय है। जो इस मे थोडी सी भी शंका करे उसको मुक्ति नहीं होती।

जीवस्वभाव मे ज्ञान की खान भरी हुई है, जीव स्वयं पूर्ण ज्ञानमय है। वह कहीं परलक्ष में रुके बिना और राग-द्वेष का विकल्प भी किए बिना सब को जाने वैसे सामर्थ्य वाला है। इसलिए हे जीव! तू संयोग को, संयोग के लक्ष से होने वाले ज्ञान को अथवा विकार को अपना स्वरूप न मान। परन्तु विकार के समय भी तू उन सब का लक्ष छोड़कर अन्तरोन्मुख होकर अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा कर! पूर्ण ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। ऐसी श्रद्धा प्रगट करके जिसने अपने ज्ञान को आत्मस्वभाव में एकतारूप परिणमित किया है उसे सदैव धर्म होता रहता है—प्रति समय शुद्धता बढती जाती है और बंधन से मुक्ति होती जाती है।

(२४९) 'आहार का त्याग करना धर्म है'—यह मान्यता अज्ञान है

अधिकांश लोग आहारत्याग को धर्म मान बैठे हैं; परन्तु वह मात्र अज्ञान ही है। शरीर को आहार का संयोग नहीं हुआ, वह जड़ की स्वतंत्र क्रिया है, उस के

साथ आत्मा के धर्म का सम्बन्ध नहीं है। आहार का राग कम करे तो वह पुण्य है, परन्तु यदि उसे धर्म माने अथवा यह माने कि मैंने आहार को छोड़ा है तो मिथ्यात्व का अनंत पाप उसी समय बंधता है। वह मिथ्यात्वरूपी पाप कैसे टले और जीव को धर्म कैसे हो–उसकी यहाँ बात है। मैं आहार का कर्ता नहीं हूँ, इच्छा होती है उस के साथ ज्ञान की एकता नहीं है, इच्छा से और आहार से पृथक् तथा ज्ञान–आनंद से अभेदरूप आत्मस्वभाव मैं हूँ-ऐसी शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करने से सम्यक्दर्शन प्रगट होता है और मिथ्यात्व का अनंत पाप दूर हो जाता है,–यही अनंतकाल में एक क्षणमात्र भी नहीं किया–ऐसा अपूर्व धर्म है। इस के अतिरिक्त आहारादि का राग छोड़कर पुण्य तो जीव ने अनंतबार बाँधा है, उस के फल में अनंतबार महान सम्राट हुआ, और पाप करके उस के फल में अनंतबार भिखारी भी हुआ है। अनंतबार स्वर्ग के भव धारण किए और अनंतबार नरक के, परन्तु उन पुण्य-पाप और उन के फल से भिन्न अपना आत्मस्वभाव है उसे कभी नहीं समझा, इसी से संसार का भ्रमण दूर नहीं हुआ। अब वह संसार–परिभ्रमण कैसे दूर हो और मुक्तदशा कैसे प्रगटे–उस का उपाय बहुत ही सरल रीति से यहाँ समझा कर संतो ने महान उपकार किया है।

(२५०) धर्मी जीव की निःशंकता

जिसने ज्ञान और आत्मा की एकता मानी है उस जीव को राग हो उस समय भी–'मैं ज्ञान से पृथक् हो जाता हूँ,

अथवा तो मेरा ज्ञान आत्मा से पृथक् होकर रागरूप हो जाता है'—ऐसी शंका बिलकुल नहीं होती। बस, ऐसी सम्यक्-श्रद्धा के बल से त्रिकाली चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेकर उस में एकता की और राग के साथ की एकता को तोड़ दिया ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित उत्तम क्षमादि दसों धर्म अंशतः आजाते हैं।

(२५१) धर्मी जीव कहाँ आरूढ़ होता है?

जिस प्रकार पहाड़ के ऊपर चढने वाले का लक्ष नीचे तलहटी पर नहीं होता, परन्तु ऊपर शिखर पर होता है, इसी प्रकार जिसे आत्मा की मुक्तदशा प्रगट करना हो वह जीव नीचे नहीं देखे, अर्थात् रागादि को या क्षणिक अवस्था को ही अपना स्वरूप नहीं समझे, किन्तु ऊपर देखे अर्थात् सदैव परिपूर्ण नित्य चैतन्यस्वभाव को समझकर उस की श्रद्धा करे और क्षणिक पर्याय में या राग में एकता मान-कर उस में आरूढ न हो, परन्तु त्रिकाली चैतन्यस्वभाव में आरूढ हो, तो उसकी परिणति ऊपर ऊपर चढती जाती है अर्थात् शुद्ध होती जाती है, और वह मुक्ति प्राप्त करता है। धर्म करना हो उसे अपने आत्मा को त्रिकाली चैतन्य भग-वानस्वरूप स्वीकार कर के उसकी श्रद्धा–ज्ञान करके उसी में आरूढ होना चाहिए। जो जीव पुण्य-पाप को ज्ञान के साथ एकमेक माने, पुण्य से धर्म माने अथवा तो पुण्य अच्छा है, वह अपना कर्तव्य है-ऐसा माने वह जीव विकार में ही आरूढ हुआ है, वह स्वभाव में आरूढ़ नहीं होता इस से नीचे नीचे गिरता जाता है।

(२५२) चैतन्यभगवान के दर्शन

जिसने ज्ञान को विकार का कर्ता माना है उस जीव ने आत्मा और ज्ञान के बीच भेदरूप परदा रखा है। जिस प्रकार जिनप्रतिमा पर आड़ा परदा डालकर देखे तो उसका रूप स्पष्ट दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमय जिनबिम्ब है; परन्तु 'विकार मेरा स्वरूप है'-ऐसी मिथ्या मान्यतारूपी परदा आड़ा डालकर देखने वाले को यह दिखाई नहीं देता कि स्वयं चैतन्यभगवान है, परन्तु विकारी ही भासित होता है। वह जीव ज्ञान और आत्मा के बीच मिथ्यात्वरूपी परदा रखता है, इस से उसे चैतन्यभगवान के दर्शन नहीं होते। वह परदा दूर करके सच्ची मान्यता से देखे तो अपना ही आत्मा भगवान है, वह ज्ञात होता है।

(२५३) जीवन का कर्तव्य

अहो! धर्मात्मा जीव को जीवन में यदि कुछ करना हो तो आत्मा और ज्ञान की सम्पूर्ण एकता करना चाहिए, वही करना है। प्रथम, राग से भिन्नता और ज्ञान के साथ आत्मा की एकता की श्रद्धा करना चाहिए और फिर ज्ञान को स्वरूप में स्थिर करके वीतरागभाव प्रगट करके सम्पूर्ण एकता करना चाहिए—इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है। इसी में मोक्षमार्ग अथवा धर्म, जो कहो वह आ जाता है। किसी भी पर के कारण ज्ञान विकसित होता है-ऐसा जिसने माना है उसने राग के साथ ही ज्ञान

की एकता की है—ऐसा अज्ञानी जीव प्रत्येक संयोग के समय ज्ञान और आत्मा की एकता को तोड़ता है, वह अधर्म है। ज्ञान और आत्मा की एकता की तथा रागादि से भिन्नता की श्रद्धा से ज्ञानी जीव को चाहे जैसे प्रसंग के समय भी प्रति समय स्वभाव में ज्ञान की एकता बढ़ती जाती है और राग टूटता जाता है—वह धर्म है।

(२५४) गृहस्थपने में धर्मी को स्वभाव की निःशंकता

भरत चक्रवर्ती, पाँच पांडव, रामचन्द्रजी, श्रेणिक राजा, सीताजी इत्यादि को गृहस्थपने में भी ऐसे ज्ञानस्वभाव का बराबर भान था और इससे उन्हें प्रति समय आत्मस्वभाव में ज्ञान की अभेदता बढ़ती जाती थी और विकार में अटकना दूर होता जाता था, गृहस्थपने में राग होता था तथापि उन्हें आत्मा की राग के साथ एकता हो जाती होगी!'—ऐसी बिल्कुल शंका नहीं होती थी। श्रेणिक राजा इस समय नरक के संयोग में हैं, तथापि उनके ऐसी ही दशा है। सभी सम्यग्दृष्टिओं को ऐसी ही श्रद्धा होती है, उसमें उन्हें किंचित् शंका नहीं होती जिसे ज्ञान और आत्मा की एकता में शंका है वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसे राग और संयोगों के साथ एकता की मान्यता बनी हुई है।

(२५५) पर में एकता वह अधर्म; स्व में एकता वह धर्म

बाह्य में शरीरादि जड़ की क्रिया से अथवा अंतर के

पुण्यपरिणाम से जो धर्म मानता है वह जीव अपने ज्ञान की जड़ के साथ और विकार के साथ एकता मानकर अधर्म का ही सेवन कर रहा है, और जिसने आत्मस्वभाव में ज्ञान की एकता की है उसने विकार से और जड़ से अपने ज्ञान को पृथक् किया है, वह जीव प्रतिक्षण अनंतानंत काल में कभी न किया हुआ-ऐसा अपूर्व धर्म कर रहा है। स्वभाव में एकता करके रागरहित हुआ उसका ज्ञान स्वयं ही धर्म है; वही सम्यक्त्व, ज्ञान और संयम है। इसका नाम सर्व-विशुद्ध ज्ञान है।

(२५६) आत्मा के साथ शत्रुता कैसे दूर होती है?

आचार्यभगवान कहते हैं कि, हे जीव! तू पर में मत देख! पर से गुण प्रगट होंगे-ऐसा मानकर अपने आत्मा का अनादर न कर! तेरा आत्मा ही अनंत गुण का भंडार है; उस में अपने ज्ञान की एकता करके, उसके साथ जो अनंत काल से शत्रुता चली आ रही है उसे छोड़ दे! वही सच्ची क्षमा है। जिसने आत्मा और ज्ञान का पृथक्त्व मानकर विकार के साथ किंचित् भी एकत्व माना है अर्थात् संयोगों से ज्ञान होना माना है उसने संयोग और विकार के साथ भाईबंधी (एकत्वबुद्धि) की है, और अपने आत्मा के साथ वैर बांधा है, विकार का आदर और स्वभाव का अनादर करके उस पर अनन्त क्रोध किया है, अपने आत्मा का महान अपराध किया है। यह अनन्त-कालीन महान अपराध और क्रोध दूर होकर सच्ची क्षमा कैसे प्रगट हो उस का उपाय यहाँ कहा है।

(२५७) मोक्ष और निगोद

अज्ञानी जीव पैसा खर्च करने से पुण्य और धर्म मनवाते है, और उसके फल में स्वर्ग-मोक्ष मिलेगा-ऐसा कहते हैं, परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि पैसा खर्च करने के कारण तो पुण्य-पाप अथवा धर्म कुछ भी नहीं होता, क्योंकि वह तो जड है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। परन्तु 'मैं पर का कर्ता हूँ, और मैंने पैसा खर्च किया है'—ऐसा मानकर और पुण्य से धर्म मानकर मिथ्यात्व की पुष्टि करके वह महापापी जीव निगोद मे जायेगा। देखो अज्ञानी पैसा खर्च करने से मोक्ष मना रहे हैं। ज्ञानी कहते हैं कि, पैसे की क्रिया का कर्ता मैं हूँ-ऐसा मानने वाला जीव मिथ्यात्व के कारण निगोद में जायेगा। ज्ञानी और अज्ञानी की मान्यता में ऐसा विरोध है। इस मान्यता के साथ धर्म-अधर्म का संबध है।

पुण्य से या जड़ की क्रिया से आत्मा का धर्म मानेगा वह जीव मिथ्यात्व के कारण निगोद मे जायेगा ऐसा कहा, वह कहीं डराने के लिए नहीं कहा है, परन्तु यथार्थ स्वरूप समझाया है। जिसने आत्मा के ज्ञान को स्वभाव से छुड़ाकर संयोगों के साथ जोड़ा है उस के ज्ञान का परिणमन अनंता हीन हो जायेगा-उसी का नाम निगोद दशा है; उसकी ज्ञान-शक्ति अत्यत नष्ट हो गई इससे बाह्य निमित्तरूप भी मात्र एक स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त दूसरी कोई इन्द्रिया नहीं होती।

(२५८) ज्ञानस्वभाव की आराधना और विराधना का फल

'मैं ज्ञाता साक्षीस्वरूप नहीं, किन्तु पर का और विकार

का कर्ता हूँ'—इस प्रकार जिसने पर का कर्तृत्व माना है और अपना ज्ञातास्वभाव नहीं माना—उस जीव की मिथ्या मान्यता में ऐसा आजाता है कि मेरा ज्ञातास्वभाव ढॅक जाए और मुझ में विकार का तथा पर के कर्तृत्व के भाव का विकास हो। इस मिथ्या मान्यता के कारण उस जीव का ज्ञान अंतिम से अंतिम सीमा तक ढँक जायेगा और वह एकेन्द्रिय होगा। अपने ज्ञानस्वभाव की विराधना का यही फल है। और जिसने अपने ज्ञाता साक्षीस्वरूप को स्वीकार करके विकार की और पर के कर्तृत्व की बुद्धि को उड़ा दिया है वह जीव प्रति समय अपने ज्ञातृत्व को बढ़ाता बढ़ाता और रागादि भावों को दूर करता हुआ अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करता है और साक्षातूरूप से सम्पूर्ण ज्ञाता हो जाता है। अपने ज्ञानस्वभाव की आराधना का यह फल है।

(२५९) ज्ञान का कार्य

कहीं आग लगी हो तो उसे आँख जानती है, लेकिन क्या करे? क्या वह पदार्थों में फेरफार कर सकती है? जिस प्रकार आँख पदार्थों को जानती है लेकिन उन में फेरफार नहीं कर सकती, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, आत्मा सब को जानता है लेकिन पर में वह क्या करे? पर को जानने में राग-द्वेष करना भी ज्ञान का कार्य नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूप की जिसे श्रद्धा है वह धर्मात्मा संयोग और रागादि का ज्ञाता ही है। पांडव आदि धर्मात्मा थे; जिस समय कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ उस समय अज्ञानियों

को तो बाह्य दृष्टि से ऐसा ही दिखाई देता है कि यह पांडव युद्ध और द्वेष के कर्ता हैं, परन्तु वास्तव मे तो उस समय भी वे धर्मात्मा स्वभाव की एकता से च्युत होकर यहीं बाह्य में नहीं गये थे, संयोग की क्रिया में या राग में उनका आत्मा नहीं था, किन्तु उनका आत्मा तो ज्ञान-स्वभाव में एकता की श्रद्धा करके प्रति समय उसी में एकता की वृद्धि ही करता था,—इसका नाम धर्म है।

(२६०) 'ज्ञान और आत्मा की एकता' का क्या अर्थ ?

यहाँ, ज्ञान और आत्मा की एकता करना चाहिए-ऐसा बारम्बार कहा जाता है, ज्ञान और आत्मा की एकता करने का अर्थ क्या? 'ज्ञान अलग वस्तु है और आत्मा अलग वस्तु है,-उन दोनों को इकट्ठा करना है'-ऐसा नहीं समझना चाहिए। ज्ञान और आत्मा कहीं दो पृथक् वस्तुएँ नहीं है। आत्मा स्वयं ही अनादि से स्वयंसिद्ध ज्ञानस्वरूप है, परन्तु जिसे उस स्वरूप की खबर नहीं है वह जीव राग को अपना स्वरूप मानकर रागरूप ही स्वयं परिणमित होता है, इस से उसका आत्मा ज्ञानस्वरूप से परिणमित नहीं हुआ, उसका नाम ज्ञान और आत्मा की भिन्नता है। और अपने आत्म-स्वभाव की श्रद्धा करने से आत्मा रागादि में एकतारूप परिणमित नहीं हुआ, परन्तु स्वाश्रय से ज्ञानस्वभावरूप परिणमित हुआ, उसका नाम ज्ञान और आत्मा की एकता है-ऐसा समझना चाहिए।

(२६१) आत्मा की केवलज्ञानकला कैसे विकसित होती है?

प्रत्येक आत्मा चैतन्यस्वभावी है, उस में केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति है। जिस प्रकार—बच्चों के खेलने का रंगीन कागज का एक ऐसा खिलौना आता है कि उसके दोनों ओर लगी हुई दोनों लकड़ी की तीलियों को पकड़कर खोलने से उस में से मोर की कला जैसी दिखाई देती है। बन्द खिलौने में वैसी शक्ति थी, इस से उस में से वह कला विकसित होती है, दूसरे सामान्य कागजों में वैसा नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य की केवलज्ञानकला का भंडार है; उसकी श्रद्धा कर के राग और ज्ञान को पृथक् करने से केवलज्ञानरूपी पूर्णकला विकसित हो जाती है। परन्तु मैं पर का कर्त्ता—ऐसा माने और पर्याय में क्रोधादि हों उन्हें ज्ञान का स्वरूप माने तो वह जीव ज्ञान और राग को भिन्न नहीं जानता है इस से उसकी ज्ञानकला का विकास नहीं होता, परन्तु बन्द ही रहती है।

(२६२) आत्मा में भगवान होने की सामर्थ्य है

जिस प्रकार मोर के छोटे से अंडे में साढ़े तीन हाथ का रंग-बिरंगा मोर होने की शक्ति है; उस अंडे की श्रद्धा करके उसे सेने से अल्पकाल में उस में से साक्षात् मोर प्रगट होता है, परन्तु 'इस छोटे से अंडे में इतना बड़ा मोर कहाँ से होगा!' ऐसी शंका करके यदि अंडे को हिलाये-डुलाये तो उस में से मोर नहीं होता। उसी प्रकार

यह आत्मा चैतन्यस्वरूप, शरीर–मन–वाणी–पुण्य–पापरहित है, उस के परिपूर्ण सामर्थ्य की श्रद्धा करके उस का सेवन करने से वह स्वयं केवलज्ञानरूप हो जाता है। जो सिद्ध भगवान हुए वे अपने स्वभावसामर्थ्य से ही हुए हैं, और मैं भी ऐसी ही स्वभावसामर्थ्य से परिपूर्ण हूँ—ऐसी जिसने निःशंक श्रद्धा की, उस जीव को वर्तमान ज्ञानदशा अल्प होने पर भी वह अवस्था त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होती है और उस स्वभाव के सेवन द्वारा अल्पकाल में ही उसे केवलज्ञान प्रगट होता है। परंतु 'मैं तो एक अल्पज्ञ प्राणी हूँ, मेरा पैसादि के बिना नहीं चल सकता; और मुझ में भगवान होने का सामर्थ्य इस समय कैसे हो सकता है?'–इस प्रकार जो जीव स्वभावसामर्थ्य में शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है, उस के ज्ञानकला विकसित नहीं होता। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि–हे जीवो! आत्मा परिपूर्ण चैतन्यसामर्थ्य वाला है, इस की श्रद्धा करो, उस में निःशंक होओ–बिलकुल शंका मत करो!

(२६३) द्रव्यदृष्टि का फल केवलज्ञान, पर्यायदृष्टि का फल निगोद

ऐसी निःशंक श्रद्धा कब होती है? वर्तमान अवस्था तो अपूर्ण और पुण्य–पाप वाली है, इससे अवस्था पर दृष्टि रखकर यदि निःशंकता करने जायेगा तो रागरहित त्रिकाली चैतन्य की निःशंकता नहीं होगी, परन्तु संयोग की श्रद्धा होगी, विकार में एकता होगी, वीतरागता और केवलज्ञान

विकसित नहीं होंगे, सम्यग्ज्ञान नहीं होगा, परन्तु मिथ्यात्व से ज्ञान की अत्यन्त हीनता करके वह निगोद में जायेगा। पर्यायदृष्टि का फल निगोददशा है और द्रव्यदृष्टि का फल केवलज्ञान है। जिसने आत्मा के ज्ञान को वर्तमान जितना ही क्षणिक और विकारी माना है उसने त्रिकाली चैतन्य के साथ ज्ञान की एकता नहीं की–अर्थात् ज्ञानस्वभाव की निःशंकता नहीं की; इससे उस के ज्ञान का परिणमन हीन हो जायेगा और वह एकेन्द्रिय–निगोदिया होगा। विपरीत दृष्टि के कारण संयोग में और विकार में ही अपना अस्तित्व मानता है, उस जीव ने स्वयं जीवस्वरूप से अपने अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है, इससे उस का परिणमन ऐसा हो जाता है कि दूसरे साधारण जीव भी जीवस्वरूप से उस के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

मैं त्रिकाल परम पारिणामिक चैतन्यस्वभाव हूँ–इस प्रकार आत्मस्वभाव का निर्णय करके उस में ढलने वाला ज्ञान वह जीव है। इस प्रकार अपने ज्ञान को त्रिकाली स्वभाव की ओर बढ़ाने से क्षणिक रागादि पर्याय की श्रद्धा–रुचि दूर होकर आत्मस्वभाव की निःशंक श्रद्धा होती है। ज्ञानस्वभाव की ऐसी निःशंक श्रद्धा प्रगट करके स्वभाव मे ढलते ढलते केवलज्ञान होता है, और इन्द्र उसका महोत्सव करने आते हैं।

'क्या अकेले ज्ञान से ही धर्म होता होगा ? या भक्ति–पूजादि से भी धर्म होता है ?—ऐसी शंका जिसने की और ज्ञानस्वभाव में निःशंक नहीं हुआ वह जीव स्वभाव का

अनादर करके राग को ही स्वीकार करता है; चैतन्य के केवलज्ञानसामर्थ्य को वह नष्ट कर देता है। त्रिकाल ज्ञानमय जीव की श्रद्धा करके जो निशंक हुआ है वह जीव गुण-गुणी को विकार से बचाकर अभेद करता है, पर्याय को द्रव्य में लीन करके वह केवलज्ञान प्राप्त करता है।

(२६४) बिलकुल शंका नहीं करना

मैं पर का कुछ करूँ, अथवा श्रुत-शास्त्रादि से मुझे ज्ञान हो जाये'- ऐसा मानकर जिसने अपने ज्ञान को पर सन्मुख ही रोक रखा है उसने आत्मा और ज्ञान मे भिन्नता मानी है, आत्मोन्मुख होने से ज्ञान विकसित होता है—उस मे उसने शंका की है, इससे उसका ज्ञान आत्मा से पृथक् ही रहेगा अर्थात् उसका ज्ञान आत्मा को जानने की ओर नहीं जायेगा, किन्तु पर में एकताबुद्धि करके भवभ्रमण करता रहेगा। जिसने जीव और ज्ञान की एकता मे निःशंकता करके आत्मा को जानने और उसके अनुभव में अपने ज्ञान को लगाया है उसे आत्मस्वभाव के आधार से ज्ञान की सम्पूर्ण कला विकसित होकर केवलज्ञान होता है। इसलिए यहाँ निःशंकता पर भार देकर आचार्यदेव ने कहा है कि जीव स्वयं ही ज्ञान है, इसलिए ज्ञान की जीव से भिन्नता होने की शंका बिलकुल नहीं करना चाहिए।

[१०]

卐 वीर. स. २४७४ भाद्रपद शुक्ला ७ गुरुवार 卐

धर्म करने के लिए आत्मा के स्वरूप को जानना चाहिए। आत्मा का स्वरूप कैसा है—उस का यह वर्णन चलता है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, उसका ज्ञान पर से भिन्न है और आत्मा के साथ एकमेक है। श्रुत, शब्द, रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश— इन सब से और अध्यवसान से ज्ञान पृथक् है तथा जीव के साथ वह एकमेक है अर्थात् जीव ही स्वयं ज्ञान है—ऐसा वर्णन किया है।

❀ जीव की पर्यायों के साथ भी ज्ञान की एकता ❀

जीवद्रव्य के साथ ज्ञान एकमेक होने से जीव की पर्यायों के साथ भी वह एकमेक है—ऐसा अब कहते हैं। "इस प्रकार ज्ञान जीव से अभिन्न होने से ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंग-पूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म—अधर्म (पुण्य-पाप) है; ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा, निश्चयचारित्र) है—इस प्रकार ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चय-

साधित देखना; अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना–अनुभवन करना।"

(२६५) आत्मोन्मुख ज्ञान ही सम्यक्त्व है

आत्मा से अभिन्न होने के कारण ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। अनादिकाल से आत्मस्वभाव को भूलकर पर में एकता मानता था इससे ज्ञान स्वाश्रय छोड़कर पराश्रय में ही रुकता था, वह ज्ञान मिथ्यात्व है, और पर से भिन्न आत्मस्वभाव को जानकर उस स्वभाव की ओर उन्मुख होने वाला ज्ञान ही सम्यक्त्व है। यहाँ ज्ञानगुण की बात नहीं है, परन्तु स्वभावोन्मुख ज्ञानपर्याय की बात है। ज्ञान की जो अवस्था पर का और पुण्य–पाप का लक्ष छोड़कर स्वभावोन्मुख हुई वह ज्ञान ही आत्मा है, उसका आत्मा के साथ किंचित् भेद नहीं है। और ज्ञान की अवस्था जहाँ आत्मस्वभावोन्मुख हुई वहाँ पर वस्तुओं और पुण्य-पाप के साथ एकत्व की मान्यता दूर हुई तथा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय हुआ; इससे वह ज्ञान ही सम्यक्त्व है। शरीर की क्रिया में अथवा पुण्य–पाप के भाव में ज्ञान नहीं है, इससे उन में सम्यग्दर्शन भी नहीं है, उन से सम्यग्दर्शन होता भी नहीं है।

(२६६) मिथ्याज्ञान अधर्म और सम्यक्ज्ञान धर्म

नवतत्त्वों मे से सम्यग्दर्शन कौन-सा तत्व है? पुण्य या पापतत्व मे सम्यक्दर्शन नहीं आता, सम्यक्दर्शन तो संवरतत्त्व है। स्वभाव की प्रतीति करने वाला ज्ञान ही संवर-

तत्व है और वही सम्यग्दर्शन है। पैसा खर्च करने से,
शरीर की क्रिया से अथवा पुण्य से संवर नहीं होता, परन्तु
स्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान आत्मा के साथ अभेद
हो वह ज्ञान ही संवरतत्त्व है, और वही धर्म है। मिथ्या
मति-श्रुतज्ञान परनिमित्तों से ज्ञान मानकर पर विषयों में ही
रुकता है और वहाँ एकत्वबुद्धि करता है—जैसे पर में
ही ज्ञान का अस्तित्व हो!—ऐसा वह मानता है; वह ज्ञान
आत्मा नहीं परन्तु अनात्मा है, वह मिथ्याज्ञान ही अधर्म
है, वही असंयम है। और जो ज्ञान त्रिकाली चैतन्यस्वभाव
की ओर उन्मुख होकर उस में एकाकार होता है वह सम्य-
क्ज्ञान है, वह ज्ञान ही सम्यक्त्व है, वही संयम है। ऐसी
प्रतीति करना वह जैनधर्म की अथवा आत्मस्वभाव की
इकाई है; इसे समझे बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

(२६७) कौन-सी क्रिया में आत्मा है?

वर्तमान दशा में अपूर्ण ज्ञान और पुण्य-पाप होने पर
भी जिस जीव ने अपने ज्ञान में अंतरंग परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव
की रुचि की वह जीव कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के सेवन से तो
पीछे हट गया, सुदेव-गुरु के आश्रय की रुचि भी उसके
दूर हो गई, अपनी अपूर्ण दशा का आश्रय भी छूट गया
और ज्ञान में अपने पूर्ण स्वभाव की रुचि हुई,—ऐसा ज्ञान
ही सम्यक्त्व है; ऐसा ज्ञान करना ही धर्म की
पुण्य की क्रिया से अथवा जड़ की क्रिया से
होता; क्योंकि उस क्रिया में आत्मा नहीं है; ज्ञ
में ही आत्मा है, और ज्ञान की क्रिया से ही

(२६८) अज्ञानी बंधता है, ज्ञानी छूटता है

स्व को जानने के साथ पर को भी जाने–ऐसा सम्यग्ज्ञान है, और स्व से च्युत होकर अकेले पर को जाने वह मिथ्याज्ञान है। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है वह पाप करे तो भी बंधता है और पुण्य करे तो भी बंधता है, क्योंकि उसने पुण्य–पाप में ही अपने आत्मा की एकता मानी है; परन्तु ज्ञानस्वभाव के साथ एकता नहीं मानी है; इससे वह जीव विकार से नहीं छूटता, किन्तु विकार में एकत्व मानकर बंधता ही जाता है, उसका संसार नाश नहीं होता। जिसने अपने ज्ञान को आत्मोन्मुख नहीं किया और पुण्य–पाप से पृथक् नहीं जाना वह जीव पुण्य से भी बंधता ही जाता है, किन्तु मुक्त नहीं होता; और जिस जीव ने अपने ज्ञान को पुण्य–पाप से पृथक् जानकर स्वभावोन्मुख किया है वह जीव वास्तव में पुण्य–पाप से बंधता नहीं है परन्तु स्वभाव के आश्रय से बंधन से छूटता ही जाता है। त्रिकाली ज्ञानस्वभाव जैसा है वैसा जानकर उसकी रुचि–प्रतीति की वह जीव सम्यग्दृष्टि हुआ।

(२६९) सम्यग्दर्शन

यहां आचार्यदेव ने आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होते हुए ज्ञान को ही सम्यक्त्व कहा है, परन्तु देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यक्त्व नहीं कहा, क्योंकि वह पर है, परोन्मुख होते हुए ज्ञान को तो यहाँ अचेतन कहा है। स्वभावोन्मुख होकर अपने आश्रय से ज्ञान द्वारा स्वभाव की प्रतीति करना

वह सम्यग्दर्शन है। नवतत्व के लक्ष से नवतत्वों की श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन नहीं है। आत्मा के कारण अजीव शरीरादि चलते हैं-ऐसा माने उसने तो वास्तव में नवतत्व को भी नहीं माना है, जीव और अजीव को एक ही तत्व माना है। और पुण्य से धर्म होता है, शरीर की क्रिया से धर्म होता है-ऐसा मानने वाले ने भी पुण्यतत्व को तथा संवर-निर्जरा तत्वों को पृथक् नहीं माना है; वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, किन्तु कोई जीव नवतत्वों को माने; लेकिन उनका लक्ष छोड़कर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। 'मै जीवतत्व हूँ, अजीवतत्व मुझ से पृथक् है'-इत्यादि विकल्प करके ज्ञान रुके तो वह राग-द्वेषरूप अध्यवसान है, उस में ज्ञान नहीं है।

(२७०) स्व-पर का भेदज्ञान

श्रुत से लेकर अध्यवसान तक समस्त पर को अचेतन कहकर परवस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय से तो ज्ञान का बिलकुल भिन्नत्व बताया; और जीव स्वयं ही ज्ञान है और उसके गुण-पर्यायें भी ज्ञान ही हैं-ऐसा कहकर जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को अभेदरूप एक 'ज्ञान' में ही समाविष्ट कर दिया है। इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव को सर्व पर से भिन्न जानकर जो ज्ञान अपने द्रव्यस्वभाव में उन्मुख होकर लीन हुआ वह ज्ञान स्वयं ही द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेदरूप आत्मा है। इस प्रकार आचार्यदेव ने ज्ञान को ही आत्मा कहा और ज्ञान के अतिरिक्त समस्त पर को

अचेतन कहकर उन से ज्ञान को स्पष्टतया भिन्न बतलाया है। इस प्रकार स्व-पर का भेदविज्ञान कराया है।

(२७१) अनेकान्त और सम्यक्‌एकान्त

'ज्ञान ही सम्यक्त्व है'-ऐसा कहने से एकांत नहीं होता, परन्तु उसी मे अनेकान्त आ जाता है। ज्ञान ही सम्यक्त्व है-ऐसा कहने से ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे गुणों का अभाव नहीं हुआ परन्तु ज्ञान मे वे अभेदरूप से आ गये, वही अनेकान्त है। और अभेद ज्ञानस्वभाव मे ज्ञान ढला वह सम्यक्‌एकान्त है, सम्यक्‌एकान्त अनेकान्त का प्रयोजन है, वह धर्म है।

(२७२) ज्ञान ही संयम है

स्वभाव मे स्थित हुआ ज्ञान ही संयम है, उस ज्ञान से भिन्न कोई संयम नहीं है। छहकाय के जीवों की हिंसा से निवृत्ति का शुभराग या पंचमहाव्रत के विकल्प-वह संयम नहीं है। पर का और राग का आश्रय छोड़कर त्रिकाल आत्मस्वभाव के आश्रय से जो ज्ञान स्थिर हुआ वह ज्ञान ही संयम है। शरीर की क्रिया मे संयम नहीं है; पर जीव नहीं मरा वह संयम नहीं है। ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लेकर ज्ञान उसमें स्थिर हुआ वही संयमभाव है।

ज्ञान स्वयं ही जीव है, स्वयं ही सम्यक्त्व है, स्वयं ही चारित्र है। पहले ज्ञान पर में युक्त होता था वह असंयम था, और फिर ज्ञान ही जीव है-ऐसा मानकर समस्त इन्द्रियों से पराङ्मुख होकर ज्ञान अपने आत्मा मे युक्त हुआ वही

संयम है। पर के कारण जिसने ज्ञान माना उसका ज्ञान पर विषयों मे ही युक्त होता है, जो ज्ञान पर विषयों मे युक्त होकर वहां एकता माने वह ज्ञान लंपटी है; जो स्वभाव मे लीन हो वह ज्ञान संयमी है। इस प्रकार ज्ञान ही संयम है।

(२७३) ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है

ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है। अज्ञानी जीव शास्त्र के अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व मानते हैं, परन्तु शास्त्र के आधार से ज्ञान नहीं है। शास्त्रों में से ज्ञान नहीं निकलता परन्तु ज्ञान मे से शास्त्र निकले हैं-अर्थात् ज्ञान द्वारा जानकर जो वाणी निकली वह शास्त्र है। आजकल भरत क्षेत्र मे कितने सूत्र हैं? इस सम्बन्ध में अनेक जीव वाद-विवाद करते हैं। कोई कहते हैं—अमुक आगम विद्यमान है और दूसरे विच्छेद हैं, कोई अमुक आगम बतलाते हैं; लेकिन यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आगम में ज्ञान है ही नहीं, ज्ञान तो आत्मा के आधार से है। वर्तमान में सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा के साथ ज्ञान की एकता होकर जितना ज्ञान प्रगट हुआ उतना अंगपूर्वरूप सूत्र का अस्तित्व है, यह ज्ञान ही सूत्र है, पृष्ठों या शास्त्र में अंग-पूर्व का ज्ञान नहीं है। पृष्ठ, अक्षर और वाणी तो पुद्गल हैं। ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने से जो ज्ञान जागृत हुआ उस ज्ञान को ही अंगपूर्वरूप सूत्र कहा जाता है। अज्ञानी जीव ग्यारह अंग तक पढ़ जाये तो भी उसका ज्ञातृत्व

-यथार्थ ज्ञान नहीं है, उसके ज्ञान को तो यहां अचेतन में गिना है। ज्ञानी जीव का आत्मोन्मुख ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है। सूत्र का अर्थ जड़ सूत्र से नहीं है; लेकिन सूत्र का अर्थ है ज्ञान। धर्मी जीव का इस समय जितना सर्वोत्कृष्ट ज्ञान हो उतना ज्ञान इस समय विद्यमान है, वह ज्ञान पुण्य-पाप रहित है। सूत्र अथवा ज्ञान कहने से लोग जड पृष्ठों को देखते हैं, और उन से ज्ञान मानते हैं, परन्तु वे तो अचेतन हैं उनमे ज्ञान नहीं है। शास्त्र में लिखे हुए अक्षरों को कहीं शास्त्र नहीं जानता, उसमें क्या लिखा है उसके अभिप्राय को तो ज्ञान जानता है; इसलिए ज्ञान ही सूत्र है। इस समयसार मे ४१५ सूत्र हैं, परन्तु वह स्वय कहीं सूत्रों के आशय को नहीं जानता, जो ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख होता है वही ज्ञान सूत्रों के आशय को जानने वाला है। आत्मा की ज्ञानदशा कहीं जड मे नहीं होती। इसलिये जो ज्ञान प्रगट होकर आत्मा मे अभेद हुआ वह ज्ञान ही बारह अग और चौदह पूर्व है।

सूत्र के शब्दों से और सूत्र की ओर के राग से ज्ञान पृथक् है,—ऐसा समझकर उसका आश्रय छोड़कर जो ज्ञान अपने आत्मा की ओर उन्मुख होता है वही ज्ञान-'सूत्रों के कहने का आशय क्या है'—उसे समझ सकता है। सूत्रों का अथवा राग का आश्रय मानकर रुक जाये, तो वह ज्ञान सूत्रों के आशय को नहीं समझ सकता। कदाचित्, सूत्र तो लिखे हों, लेकिन उनके आशय को समझने वाला ज्ञान न हो तो ? तो वे सूत्र विच्छेदरूप ही कहलायेगे। इसलिए सम्यग्ज्ञान

ही सूत्र है। इस जगत में परवस्तु है-सूत्र हैं; अज्ञान दशा में उस ओर उन्मुख होता था वह उन्मुखता बदलकर ज्ञान, स्वभावोन्मुख हुआ तब वह ज्ञान अंगपूर्व के आशय को समझता है। इस में निश्चय और व्यवहार दोनों आ गये; लेकिन जब निश्चय की ओर ढलता है तब व्यवहार का ज्ञान सच्चा होता है—ऐसा भी आया।

तीर्थंकर भगवान की दिव्यवाणी में अंगपूर्व का ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वाणी स्वयं अचेतन है। धर्मी जीव के आत्मस्वभावोन्मुख होने से जो ज्ञान विकसित हुआ वह ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है।

(२७४) ज्ञान ही धर्म-अधर्म है

पुनश्च, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है। यहाँ धर्म का अर्थ पुण्य और अधर्म का अर्थ पाप-ऐसा समझना चाहिए। ज्ञान ही पुण्य-पाप है।

देखो, पहले टीका में 'अध्यवसान ज्ञान नहीं है'-ऐसा कहकर आचार्यदेव ने ज्ञान को और पुण्य-पाप को भिन्न बतलाया था, और यहाँ कहते हैं कि ज्ञान ही पुण्य-पाप है। पहले तो पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव बतलाकर भेदज्ञान कराना था, इससे वहाँ पुण्य-पाप को ज्ञान से भिन्न कहा था, और यहाँ अब साधकपर्याय का ज्ञान कराते हैं, साधकपर्याय में पुण्य-पाप होते हैं-इतना मात्र बतलाने के लिए यहाँ कथन है। परन्तु पहले तो ज्ञान पुण्य-पाप से पृथक् है-ऐसा जान लेने के पश्चात् साधक दशा की यह बात है। पुण्य-पाप होते

है वे ज्ञान की अवस्था में होते हैं, पर में नहीं होते और न पर के कारण होते हैं। धर्मी जीव का ज्ञान उन राग-द्वेष को भी जानता है। साधक दशा मे ज्ञान का परिणमन हीन है, ज्ञान ही विभाव में रुकता है इसलिए ज्ञान ही पुण्य-पाप है—ऐसा यहाँ कहा है। पहले तो पृथक् जान लेने के बाद की यह बात है, स्वभावदृष्टि पूर्वक अपूर्ण पर्याय का ज्ञान कराया है। साधकदशा में जो पुण्य-पाप होते हैं वे कर्म के कारण नहीं होते परन्तु ज्ञानस्वभाव मे पूर्ण स्थिर नहीं हुआ-इससे पुण्य-पाप होते है। यह पुण्य-पाप एकत्व-बुद्धि से नहीं हैं। ज्ञान, पुण्य-पाप नहीं है-ऐसा पहले कहा था, वहाँ तो एकत्वबुद्धि के पुण्य-पाप थे। जहाँ पुण्य-पाप में एकत्वबुद्धि थी वहाँ सच्चा ज्ञान ही नहीं था, एकत्वबुद्धि के पुण्य-पाप और सच्चा ज्ञान-दोनों एक साथ नहीं होते, इसलिए ज्ञान और पुण्य-पाप को पृथक् कहा, वहाँ पुण्य-पाप ज्ञान नहीं हैं-ऐसा कहकर पुण्य-पाप मे एकत्वबुद्धि छुड़ाई थी। पुण्य-पाप मे एकत्वबुद्धि छूटकर सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ सम्यग्ज्ञान होने पर भी पुण्य-पाप होते हैं। इस प्रकार साधकदशा में सम्यग्ज्ञान और पुण्य-पाप-दोनों साथ हैं, इससे यहाँ 'ज्ञान ही पुण्य-पाप है'—ऐसा कहा है। सम्यग्ज्ञान होने से वह ज्ञान, अवस्था को भी जानता है कि आत्मा की अवस्था अपूर्ण है और पुण्य-पाप होते है। आत्मा की अवस्था मे पुण्य-पाप होते है-वह त्रिकाल में नहीं है। ज्ञानी जीव त्रिकाल स्वभाव के आश्रय से अवस्था का ज्ञान करता है, अज्ञानी जीव पुण्य-पाप को जानने से उनमें एकताबुद्धि करता है, इस-

लिए उसके तो पुण्य-पाप ही हैं,-ज्ञान नहीं है। उन पुण्य-पाप में ज्ञान का अभाव है। ज्ञानी को आत्मस्वभावोन्मुख होने से सम्यग्ज्ञान हुआ और पुण्य-पाप में एकत्वबुद्धि छूट गई, तथापि अभी साधक पर्याय में पुण्य पाप होते हैं उन्हें वह ज्ञानी अब बराबर जानता है। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय के ज्ञान की संधि है। जो पुण्य-पाप से लाभ मानते हैं वे तो पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञानस्वभाव को भूल जाते हैं, उन्हें सम्यग्ज्ञान नहीं होता, और दूसरे कोई जीव, 'आत्मा पुण्य-पाप रहित शुद्ध ही है'-ऐसा एकान्तरूप से मानकर-'पुण्य-पाप कर्म के घर के हैं'—ऐसा मान बैठते हैं, वे जीव पर्याय को भूल जाते हैं, उन्हें भी सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

यहाँ तो ज्ञान ही पुण्य-पाप है ऐसा कहकर पारिणामिक-भाव की पर्याय का वर्णन किया है। पुण्य-पाप भी पारिणामिकभाव से होते हैं, पारिणामिकभाव ही पर्याय में विभावरूप से परिणमित हुआ है; कर्म के उदय से पुण्य-पाप नहीं हुए हैं। अभी पारिणामिकभाव पूर्ण स्वभावरूप परिणमित नहीं हुआ है-इससे पुण्य-पाप होते हैं।

(२७५) जीवद्रव्य और जीव की पर्यायों के साथ ज्ञान की एकता

प्रथम द्रव्य के साथ ज्ञान का अभेदपना बतलाया कि-जीव ही ज्ञान है, जीव और ज्ञान में पृथक्त्व की शंका बिलकुल नहीं करना चाहिए। इस प्रकार पहले अभेदस्वभाव की श्रद्धा कराके फिर पर्याय का भी ज्ञान कराया कि ज्ञान

ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्व-रूप सूत्र है, ज्ञान ही पुण्य-पाप है और ज्ञान ही दीक्षा-निश्चयचारित्र है। इसप्रकार जीवद्रव्य के साथ और जीव की पर्यायों के साथ ज्ञान की एकता और पर द्रव्य तथा उसकी पर्यायों से ज्ञान की भिन्नता निश्चय द्वारा सिद्ध हुई समझना-अनुभवन करना,-उस का नाम भेदविज्ञान है, वह अपूर्व धर्म है।

(२७६) जहाँ रुचि वहाँ निःशंकता। अज्ञानी पर में सुख मानकर निःशंक होता है और ज्ञानी स्वभाव में निःशंक होता है

स्त्री-लक्ष्मी-भोजनादि विषयों में कभी सुख देखा नहीं है, और वहाँ सुख है भी नहीं, तथापि, आत्मा में सुख है उसे भूलकर पर विषय मे सुख मान रखा है। पैसा, मकान, भोजन, शरीरादि तो परमाणु के बने हुए हैं-अचेतन हैं, क्या उन अचेतन परमाणुओं में सुख है? उनमें कहीं भी सुख नहीं है और न वे सुख के कारण ही हैं, तथापि, विपरीत रुचि के कारण वहाँ निःशंकतया सुख की कल्पना कर रखी है। जहाँ सुख नहीं है वहाँ माना है इसलिये वह मान्यता मिथ्या है। यदि विपरीत रुचि को पलटकर आत्मा की रुचि करे तो आत्मा के स्वभाव में सुख है उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो। यदि लड्डू मे सुख हो तो उसका यह मतलब हुआ कि जब लड्डू खाये तब आत्मा में सुख आये, और जब वह विष्टारूप होकर बाहर निकल जाये तब

आत्मा में से सुख चला जाये ! लड्डू में सुख नहीं है, इसमें जो सुख भासित होता है वह तो मात्र अज्ञानी की मिथ्या कल्पना है। वह कल्पना तो अपने में स्वयं ही बनाई है। सुख की कल्पना कहां होती है—उसका भी कभी विचार नहीं किया है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी पदार्थों में न तो कभी सुख देखा है, और न उनमें है ही, तथापि वहां सुख की कल्पना खड़ी करके निःशंकतया सुख मान लिया है; असत् कल्पना खड़ी की है। पर में सुख न होने पर भी और न कभी देखा होने पर भी मात्र रुचि के विश्वास से मान लिया है। इसलिए 'देखे तभी मानता है' ऐसा नहीं है; परन्तु जहां रुचिकर प्रतीति होता है वहीं निःशंक हो जाता है। विपरीत रुचि का बल है इससे, पर में सुख नहीं है ऐसा लाखों ज्ञानी कहे, तथापि वह अपनी मान्यता को नहीं बदलता। तब फिर अपने आत्मस्वभाव में तो परिपूर्ण सुख है, उसे जानकर मानना वह तो सत् पदार्थ की रुचि है, यदि स्वभाव की प्रतीति और रुचि करे तो स्वभाव का सुख तो ज्ञात हो, और अनुभव में आये ऐसा है। पर में सुख माना, वह तो असत् प्रतीति थी, इसमे दुःख था। पर में सुख है ही नहीं तो उस की प्रतीत करने से कैसे सुख प्रगट हो ? अपने स्वभाव में सुख है उसे मानना वह सत् प्रतीति है, और ऐसी प्रतीति करे तो स्वभाव में से सुख प्रगट होता है। ज्ञान मे जो ज्ञात हो उसी को माने ऐसा जीव की श्रद्धा का स्वभाव नहीं है, परन्तु जो अपने को रुचता है उसे वह मानता है, और वहाँ निःशंक हो

जाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो स्वभाव के सुख का तो ज्ञान में अनुभव हो सकता है। आत्मा का सुख पर मे है—ऐसी विपरीत श्रद्धा ही महान पाप है।

आत्मा का श्रद्धागुण ऐसा है कि जहाँ रुचि हो वहाँ वह नि:शंक हो जाता है। अपने स्वभाव मे निःशंक हो तो धर्म होता है, और पर मे सुख मानकर वहाँ निःशंक हो तो अधर्म होता है। पर को जानने से आत्मा का ज्ञान पर मे रुक गया है और वहीं सुख मान लिया है, परन्तु उस मान्यता में, उस ज्ञान में या पर वस्तु मे स्वयं कभी सुख नहीं देखा है; और उस किसी में सुख नहीं है-ऐसा अनंत तीर्थंकरो ने कहा है, तथापि स्वयं उस मान्यता को नहीं छोड़ता। देखो, अनंत तीर्थंकर कहे तो भी अपने को जो बात रुचिकर प्रतीत हुई उसे नहीं छोड़ता—ऐसी दृढ़ता वाला है। उसी प्रकार स्वभाव की रुचि से जिसे स्वभाव में सुख की श्रद्धा हुई वह जीव ऐसा दृढ होता है कि-यदि इंद्र भी उसे श्रद्धा से डिगाने आये तब भी न डिगे, सारा जगत न माने और प्रतिकूल हो जाये तब भी उस के स्वभाव की श्रद्धा न बदले। सम्पूर्ण आत्मा केवलज्ञान मे जैसा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है वैसा उस जीव को भले ही प्रत्यक्ष ज्ञात न हो, परन्तु जैसा केवली ने देखा है वैसे ही परिपूर्ण आत्मस्वभाव की दृढ प्रतीति उसे होती है। जैसा आत्मा केवली की श्रद्धा में है, वैसा ही उस साधक धर्मात्मा की श्रद्धा मे है, उस श्रद्धा में वह नि:शंक है, किसी की दरकार नहीं रखता। ऐसी प्रतीति करना ही धर्म का उपाय है।

अफीम खाने में अथवा अग्नि में जल-मरने आदि में सुख की कल्पना करते हैं। क्या अफीम या अग्नि में सुख है? वहां सुख नहीं है, मात्र अज्ञान से मान रखा है। अज्ञान द्वारा पर में सुख की कल्पना करने में भी पर का आश्रय नहीं करता, अपने आप कल्पना करके, जहां नहीं होता वहां भी मान लेता है; तब फिर अपने स्वभाव में सुख है, उसे किसी पर का आश्रय नहीं है और उस स्वभाव की श्रद्धा भी पराश्रय रहित है।

[११]

☆ वीर सं. २४७४ भाद्रपद शुक्ला ८ शुक्रवार ★

आत्मा पर से और विकार से भिन्न है, और ज्ञान के साथ एकमेक है–ऐसा जाने तो, ज्ञान पर से हटकर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हो–वह धर्म है।

(२७७) ज्ञान ही दीक्षा है

जो ज्ञान आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर प्रतीति करता है उस ज्ञानरूप परिणमित हुआ आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वही सूत्र है, वही संयम है, वही दीक्षा है; और वही सुख तथा धर्म है। वस्त्र परिवर्तित हो जाये अथवा शरीर की अवस्था वस्त्र रहित हो जाये तो उसका नाम कहीं दीक्षा या प्रव्रज्या नहीं है, क्योंकि वह तो अचेतन है। शरीर और राग रहित आत्मा की श्रद्धा–ज्ञान करके उस मे जो ज्ञान एकाग्र हुआ वह ज्ञान ही दीक्षा है। और वह ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है इस से आत्मा ही दीक्षा है।

(२७८) स्व–पर का भेदविज्ञान वह मोक्षमार्ग

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से आत्मा एकमेक है, आत्मा से बाहर कहीं भी सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र नहीं हैं, इस

प्रकार जीव द्रव्य और जीव की दर्शन-चारित्रादि जितनी पर्यायें हैं उनके साथ ज्ञान को अभिन्नरूप से देखना चाहिए, अर्थात् पर्याय पर्याय में अंतर मे ज्ञानस्वभाव का निश्चय-साधित अनुभवन करना चाहिए। ज्ञान को स्वभाव से एकमेक और पर से बिल्कुल भिन्न अनुभवन करना-जानना-मानना चाहिए। वह भेदज्ञान है और वही मोक्षमार्ग है।

हे जीव! तेरे ज्ञान को और सर्व गुणों को ज्ञान के साथ एकमेक बतलाया और पर से भिन्न बतलाया; इसलिए तू अपने गुणों को-अपने धर्म को पर में मत ढूंढ, परन्तु अपने स्वभाव में ही देख-अपने स्वभाव को पहिचान! तेरे गुण पर में नहीं हैं इसलिए परसन्मुख देखने से तेरे गुण प्रगट नहीं होंगे। तेरे गुण स्वभाव में एकमेक हैं, इसलिए स्वभावसन्मुख देखने से वे प्रगट होंगे। इसलिए स्व-पर का भेदज्ञान करके स्वसन्मुख हो!

❀ ज्ञानस्वभाव के अनुभव का उपदेश ❀

अब आचार्यदेव सर्व कथन के साररूप कहते हैं कि-यहाँ बतलाया है इस प्रकार सर्व पर द्रव्यों से पृथक् और अपने स्वभाव से अभेद-ऐसे शुद्धज्ञान को देखना, ऐसे शुद्ध-ज्ञान का अनुभवन करना,-इसी में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग आ जाता है। अब "इस प्रकार सर्व पर द्रव्यों के साथ व्यतिरेक द्वारा और सर्व दर्शनादि जीव स्वभावों के साथ अव्यतिरेक द्वारा........परमार्थरूप शुद्ध

ज्ञान एक अवस्थित देखना चाहिए, अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभवन करना चाहिए।"

(२७९) भेदज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती

आत्मा की ओर ढलती हुई निर्मल पर्याय को यहाँ जीव-स्वभाव कहा है, क्योंकि वह पर्याय स्वभाव के साथ अभेद है। आत्मस्वभावोन्मुख होने से जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल दशाएँ प्रगट हुईं उन से ज्ञान पृथक् नहीं है, अर्थात् ज्ञान-स्वरूपी आत्मा और निर्मल पर्यायें अभेद हैं। जो जीव अपने ज्ञान की आत्मा के साथ एकता और पर से भिन्नता मानता है वह जीव अपने ज्ञान को पर लक्ष से छुड़ाकर आत्मा में एकाग्र करता है—इस से उसका ज्ञान शुद्धस्वभाव-रूप परिणमित होता है और विकार से मुक्त हो जाता है। जैसे—घर में जिस पुत्र के साथ नहीं बनती उस से अलग होता है, लेकिन जिस से प्रेम हो उस से अलग नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा को जिन पदार्थों पर प्रेमभाव (एकताबुद्धि) हो उन से वह अपने को पृथक् नहीं मानता और उनका लक्ष छोड़कर स्वभाव में नहीं आता। परन्तु पर को पृथक् माने तो उस का लक्ष छोडकर ज्ञानस्वभाव की ओर ढल-कर उस में एकाग्रता करे। जो जीव किसी भी परवस्तु से अपने को सुख या धर्म होना माने वह जीव उस वस्तु से अपने को पृथक् नहीं मानता, और जिस से अपने को पृथक् नहीं मानता उस पर से अपना लक्ष नहीं हटाता। पर के ऊपर से ज्ञान का लक्ष नहीं हटाता इस से पृथक् होकर

स्वभाव में नहीं आता और उसकी मुक्ति नहीं होती। पर से भिन्नत्व का ज्ञान (भेदज्ञान) ही मुक्ति का उपाय है। जो शरीरादि में सुख मानता है उसे उन शरीरादि पर प्रेम है, इस से उन से वह अपने को पृथक् नही मानता। उनसे पृथक् है तथापि नहीं मानता—वह मान्यता अज्ञान है। जिसे स्वभाव की रुचि है-प्रेम है वह जीव स्वभाव के आधार से प्रगट हुई निर्मल पर्यायों से अपने को पृथक् नही मानता; विकार को अपने से पृथक् मानता है, परन्तु श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को पृथक् नहीं मानता, क्यों कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तो आत्मा के साथ ही एकमेक हैं।

(२८०) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष का निवारण

यहां ज्ञानस्वभाव से आत्मा की पहिचान कराई है। ज्ञान आत्मा मे है और पर मे नहीं है-ऐसा समझे तो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष दूर होते हैं। आत्मा का ज्ञान परवस्तु से होता है—ऐसा जो मानता है उसे अतिव्याप्ति दोष आता है। आत्मा का ज्ञान आत्मा मे भी रहता है, और उसके अतिरिक्त दूसरे पदार्थों में भी रहता है—ऐसा मानना वह अतिव्याप्ति दोष है; और आत्मा अपने श्रद्धा-ज्ञानादि से भिन्न है-ऐसा मानना वह अव्याप्ति है। आत्मा का ज्ञान पर का कुछ भी करता है-ऐसा मानना वह अतिव्याप्ति दोष है। आत्मा का ज्ञान पर का कुछ नहीं कर सकता, और पर पदार्थों से किंचित् ज्ञान नहीं होता; ज्ञान

अपने आत्मा से और श्रद्धा आदि पर्यायों से किंचित भिन्न नहीं है—ऐसा समझना वह सम्यग्ज्ञान है, उसमे अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का अनुभवन करना चाहिए—ऐसा यहां उपदेश है। उस ज्ञानस्वभाव का यह वर्णन है।

(२८१) संसार का मूल मिथ्यात्व, मोक्ष का मूल सम्यक्त्व

अपने ज्ञान को पराधीन माना है, पर के साथ एकमेक माना है, वह अनादि का विभ्रम है, वह अनादिविभ्रम पुण्य-पाप का मूल है और वही संसार का मूल है। अपने स्वाधीन ज्ञान की प्रतीति करे तो वह अनादिविभ्रम दूर होकर सम्यक्त्व होता है, वह सम्यक्त्व ही मोक्ष का मूल है। दर्शनप्राभृत में भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव का सूत्र है कि-'दंसणमूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल सम्यक्दर्शन है। संसार का मूल मिथ्यात्व है और मोक्ष का मूल सम्यक्त्व है।

(२८२) ज्ञानी की स्वभाव में एकता है, और अज्ञानी की पुण्य-पाप में।

विकार और आत्मा की एकत्वबुद्धि वह अनादिविभ्रम है, वह विभ्रम ही पुण्य-पाप का मूल है, और पुण्य-पाप परसमय है। यहां अज्ञानी के ही पुण्य-पाप की बात है, क्योंकि उसी को पुण्य-पाप में एकताबुद्धि है। ज्ञानी को पुण्य-पाप में एकताबुद्धि नहीं है इससे यहां उसके पुण्य-पाप

की गिनती नहीं की है। आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा करके उसमें एकता-अभेदता हो वह स्व-समय है, और वह पुण्य-पाप का नाश करके मोक्ष प्रगट करने का मूल है। एकरूप स्वभाव में से भेद पड़कर जो पुण्य-पाप होते हैं वह अधर्म है। ध्रुव-चैतन्यस्वभाव में एकता का मूल सम्यक्त्व है; और पर के साथ एकता मानकर पुण्य-पापरूप द्वित्व होने का मूल मिथ्यात्व है। ज्ञानी को पुण्य-पाप के समय भी स्वभाव की एकता ही होती है, उसे पुण्य-पाप में एकता होती ही नहीं। अज्ञानी जीव ज्ञानस्वभाव में एकता न करके पुण्य-पाप में एकता करता है वह भ्रम है—मिथ्यात्व है; वह भ्रम ही स्वभाव की एकता छोड़कर द्वित्व खड़ा करता है। जो पुण्य-पाप के साथ आत्मा की एकता मानता है, उस अज्ञानी को पुण्य-पाप की ही उत्पत्ति होती है, परन्तु ज्ञानस्वभाव की एकता नहीं होती; इसलिए उस भ्रम को ही पुण्य-पाप का मूल कारण कहा है। वह भ्रम दूर होकर सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ज्ञानी के पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं गिनी है; क्योंकि उसके तो आत्मस्वभाव की अभेदता से शुद्धता का ही उत्पाद है। जिसे पुण्य-पाप के समय भी स्वभाव की एकता की उत्पत्ति भासित होती है वह सम्यग्दृष्टि है, और पुण्य-पाप के समय जिसे पुण्य-पाप की ही उत्पत्ति भासित होती है, किन्तु स्वभाव की एकता भासित नहीं होती वह मिथ्यादृष्टि है।

श्रद्धा-ज्ञान आत्मा से बाहर नहीं जाते और श्रद्धा-ज्ञान से आत्मा पृथक् नहीं रहता। श्रद्धा-ज्ञानादि आत्मा से एकमेक

हैं और पर से पृथक् हैं। इसप्रकार पर से भिन्नत्व को समझे उसे परसन्मुख देखना नहीं रहा, परन्तु अपने स्वभाव में ही देखना रहा। उसे स्वभाव के लक्ष से प्रतिक्षण ज्ञान की शुद्धता की ही उत्पत्ति होती है।

(२८३) मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि

शरीर-मन-वाणी का अस्तित्व मुझसे है-ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, मेरा अस्तित्व शरीर-मन-वाणी के कारण है-ऐसा माने वह भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप का जो क्षणिक अस्तित्व है उस पुण्य-पाप को आत्मा के स्वभाव में माने वह मिथ्यादृष्टि है, और उस पुण्य-पाप के कारण आत्मा टिका है-ऐसा माने वह भी मिथ्यादृष्टि है। जिसे पुण्य-पाप के अस्तित्व की ही मुख्यता भासित होती है वह मिथ्यादृष्टि है और जिसे शुद्धस्वभाव की ही मुख्यता भाषित होती है वह सम्यग्दृष्टि है। प्रतिसमय शुद्धता का प्रतिभास हो उसका मूल सम्यग्दर्शन है। एक समय भी यदि स्वभाव की मुख्यता छोड़कर पुण्य-पाप की मुख्यता हो तो उस जीव के धर्म स्थायी नहीं रहेगा।

पुण्य-पाप हैं वह परसमय है, अनात्मा है। जिसे उसी का अस्तित्व भासित होता है वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप के समय ही चैतन्यस्वभाव में जिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता भासित होती है वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से पर्याय पर्याय में स्वभाव की एकता ही बढ़ती जाती है। इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! एकबार

तू ऐसा तो मान कि ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, मुझ मे रागादि है ही नहीं। पर्याय में रागादि होते हैं वह मेरे स्वरूप मे नहीं हैं और न मेरा ज्ञान उस राग मे एकमेक होता है,—इस प्रकार राग और ज्ञान की भिन्नता को जानकर एक बार तो राग से पृथक् होकर आत्मा के ज्ञान का अनुभव कर! अपने ज्ञानसमुद्र में एक बार तो डुबकी मार!

(२८४) स्व में एकता का अभिप्राय वह धर्म, और पर में एकता का अभिप्राय वह अधर्म

ज्ञान को स्वोन्मुख करके ऐसी प्रतीति की कि ज्ञानस्वरूप ही मै हूँ, और पुण्य-पाप तथा पर वस्तुएँ मै नहीं हूँ—वही अनेकान्त है। जो पुण्य-पाप है वही मै हूँ, उससे भिन्न कहीं मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा मानना वह एकान्त है, मिथ्यात्व है, वही पुण्य-पाप की उत्पत्ति का मूल है। और मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पुण्य-पाप मै नहीं हूँ—ऐसी जो प्रतीति है वह पुण्य-पाप का नाश करके केवलज्ञान प्रगट करने का मूल है। बस, स्व में एकता का अभिप्राय वह धर्म है और पर में एकता का अभिप्राय वह अधर्म है। जिसे स्व मे एकता का अभिप्राय है उसे स्व के आश्रय से धर्म की ही उत्पत्ति है, और जिसे पर मे एकता का अभिप्राय है, उसे पर के आश्रय से अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। जिसे पुण्य पाप का ही उत्पाद भासित होता है उसे उस समय उसका व्यय भासित नहीं होता। पुण्य-पाप के समय उस पुण्य-पाप का व्यय करने का स्वभाव है—वह उसे भासित

नहीं होता। पुण्य-पाप से पृथक् पुण्य-पाप का व्यय करने वाला स्वभाव जिसे भासित नहीं होता वह पुण्य-पाप का व्यय नहीं कर सकता, इससे उसे शुद्धता नहीं होती। जिसे पुण्य-पाप रहित स्वभाव का भान है वह जीव पुण्य-पाप के समय भी स्वभाव की एकतारूप ही उत्पन्न होता है, इससे उस समय भी उसे ज्ञान की शुद्धता की उत्पत्ति में ही वृद्धि होती है, पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं बढती। यह 'सर्वविशुद्ध-ज्ञान अधिकार' है इससे स्वभाव की श्रद्धा से पर्याय में प्रति समय ज्ञान की विशुद्धता होती जाती है—उसका यह वर्णन है।

(२८५) ज्ञानी के ज्ञान की वृद्धि होती है और अज्ञानी के विकार की

हे भाई! जिस क्षण पुण्य-पाप है उसी समय आत्म-स्वभाव है या नहीं? यदि 'है' तो उस समय तुझे अपना ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख भासित होता है कि पुण्य-पापोन्मुख ही भासित होता है? जिसका ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख है उसे तो, पुण्य-पाप के समय भी ज्ञान आत्मस्वभाव में एकतारूप ही कार्य करता है इससे ज्ञान की शुद्धि बढती जाती है, और जिसका ज्ञान आत्मस्वभाव का आश्रय छोडकर पुण्य-पाप से ही उन्मुख हुआ है उसे मिथ्याज्ञान है, उसके ज्ञान की हानि होती जाती है और पुण्य-पापरूप विकारभावों में वृद्धि होती है।

एक ही काल में त्रिकाली स्वभाव और क्षणिक पुण्य-पाप दोनों हैं। उनमें त्रिकाली स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार करके

उसका आश्रय करना वह धर्म का मूल है। और त्रिकाली
स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार न करके पर का और क्षणिक
पुण्य-पाप का अस्तित्व स्वीकार करना-वह मिथ्यात्व है, वह
पाप का मूल है। ज्ञानी को त्रिकाली स्वभावोन्मुख परिणामों
से प्रति समय निर्मल परिणामों की उत्पत्ति ही भासित होती
है, और विकार की उत्पत्ति भासित नहीं होती, किन्तु व्यय
भासित होता है। अज्ञानी को विकार की उत्पत्ति ही भासित
होती है, परन्तु शुद्ध आत्मा का अस्तित्व भासित नहीं होता,
इससे उसके शुद्धता की उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानी को शुद्धात्मा
का अस्तित्व भासित होता है और उसमें पुण्य-पाप का
अस्तित्व भासित नहीं होता इससे उसे वास्तव में शुद्धात्मा की
ही उत्पत्ति होती है और पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती।

(२८६) स्वभावोन्मुख ज्ञान वह स्वसमय है और वही मोक्षमार्ग है

इस शास्त्र की दूसरी गाथा में स्वसमय और परसमय
का स्वरूप बतलाया था। यहाँ पर समय को दूर करके स्व-
समय को प्राप्त करने की बात कही है। अपने ज्ञानरूपी
नेत्रों को जिस ओर घुमाये उसका अस्तित्व भासित होता है,
और उस की ओर परिणमन होता है। मिथ्यात्व ही पुण्य-पाप
का मूल है-ऐसा कहकर मिथ्यात्व का नाश करने को कहा
है। मिथ्यात्व को दूर करने से पुण्य-पाप भी दूर हो ही
जाते हैं। मिथ्यात्व को पुण्य-पाप का मूल कहा उसमें यह
भी आ गया कि सम्यक्त्व ही चारित्र का मूल है। स्वभाव

की श्रद्धा करके ज्ञान उसमें स्थित हुआ वही चारित्र है। ज्ञान अपने आत्मस्वभाव में स्थिर हो उसी मे दर्शन–ज्ञान–चारित्र-रूप मोक्षमार्ग आ जाता है, स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ ज्ञान स्वयं ही मोक्षमार्ग है। आत्मस्वभाव के आश्रय से जो ज्ञान परिणमित हुआ उसमें मोक्षमार्ग आ गया। सम्यग्दर्शन-ज्ञान–चारित्ररूप परिणमित आत्मा को प्राप्त करना वह स्व-समय की प्राप्ति है। स्वभावोन्मुख निर्मलदशा को यहाँ स्व-समय की प्राप्ति कहा है, वह मोक्षमार्ग है, वही धर्म है। मोक्षमार्गरूप आत्मा स्वयं ही परिणमित हो जाता है। आत्मा के स्वभाव की पहिचान करके, आत्मा में ही प्रवृत्तिरूप स्व-समय को प्राप्त करके शुद्ध ज्ञान को देखना चाहिए। वह शुद्ध ज्ञान त्याग-ग्रहण से रहित है; उसने सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव को प्राप्त किया है, वह साक्षात् समयसारभूत है, और परमार्थरूप है। ऐसे शुद्ध ज्ञान का सर्व पर वस्तुओं से स्पष्टरूप भिन्न अनुभवन करना चाहिए।

[१२]

卐 वीर स. २४७४ भाद्रपद शुक्ला ९ शनिवार 卐

(२८७) ज्ञान में पर का ग्रहण-त्याग नहीं है

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में किसी पर वस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं है। ज्ञानस्वभाव को पकड़ने से-अर्थात् ज्ञान-स्वभाव में एकाग्र होने से विकार छूट जाता है, वही स्वभाव का ग्रहण और विकार का त्याग है। इसके अतिरिक्त पर का कुछ भी ग्रहण-त्याग ज्ञान में नहीं है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में कहा है कि आतमा के कहीं हाथ-पैर नहीं हैं कि पर वस्तुओं को पकड़े और छोड़े। परमार्थ से तो आत्मा विकार का भी ग्रहण करने वाला या छोड़ने वाला नहीं है। 'मैं विकारी हूँ'—ऐसी विपरीत श्रद्धा का त्याग हुआ वही विकार का त्याग है, और 'विकार रहित शुद्धस्वभाव है'-ऐसी श्रद्धा की वही स्वरूप का ग्रहण है। अज्ञान दशा में जीव पर का ग्रहण-त्याग करना मानता है, परन्तु पर का ग्रहण या त्याग कर तो सकता नहीं है। नदी में पानी बहता जा रहा हो, वहाँ कोई किनारे पर खड़ा हुआ मनुष्य ऐसा माने कि-'यह पानी मेरा है' और फिर वह कहे कि 'अब मैं इस पानी को छोड़

देता हूँ' वहाँ वास्तव में उस मनुष्य ने पानी को पकड़ा नहीं है और न छोडा ही है। पानी तो अपने प्रवाह में बहता ही जा रहा है। उस मनुष्य ने मात्र पानी के ग्रहण-त्याग की मान्यता की है, परन्तु पानी का ग्रहण या त्याग तो किया ही नहीं है, मनुष्य तो पानी के ग्रहण-त्याग रहित है। इस दृष्टान्त से ज्ञान को भी ग्रहण-त्याग रहित समझना चाहिए। इस जगत के पदार्थ सब अपने-अपने स्वभावक्रम में परिणमित होते है, वहाँ ज्ञान तो उनसे पृथक् रहकर उन्हें मात्र जानता है, परन्तु उनका ग्रहण या त्याग नही करता। परमार्थ से तो ज्ञान में विकार का भी ग्रहण-त्याग नहीं है। 'विकार को छोडो! विकार के निमित्तों को छोड़ो! कुसंग को छोड़ो!'-ऐसा उपदेश चरणानुयोग मे आता है-वह निमित्त का कथन है। उपदेश में तो ऐसे वचन आते हैं, परन्तु वस्तुस्वभाव ही पर वस्तु के ग्रहण और त्याग से रहित है, ज्ञान में पर वस्तुओं का ग्रहण-त्याग नहीं है—ऐसा स्वभाव है।

आज अनेक अज्ञानी कहते हैं कि अब सक्रिय काम कर दिखाओ! परन्तु भाई! तू क्या करेगा? क्या तू ज्ञान के पास पर का कार्य कराना चाहता है? परवस्तु में कुछ भी ऊँचा-नीचा, आगे-पीछे करने की शक्ति ज्ञान मे नहीं है। ज्ञान का स्वभाव ही पर में कुछ न करने का है। ज्ञान तो आत्मा में जानने और स्थिर होने की क्रिया करता है, इस के अतिरिक्त पर में कुछ भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। जिस प्रकार किसी दुकान पर दर्पण लगा हो, तो उस में

अनेक प्रकार के मोटर, गाड़ी, मनुष्यादि के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और फिर चले जाते हैं; वहाँ दर्पण ने उन वस्तुओं का ग्रहण या त्याग नहीं किया है, इसी प्रकार ज्ञान में सब कुछ ज्ञात होता है, परन्तु ज्ञान किसी का ग्रहण या त्याग नहीं करता। ऐसे ग्रहण-त्याग रहित, साक्षात् समयसार-भूत शुद्ध ज्ञान का अनुभवन करना चाहिए। ऐसा यहाँ उपदेश है।

यहाँ गाथा ३९० से ४०४ तथा उनकी टीका पर के प्रवचन पूर्ण हुए।
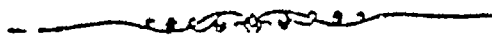
गाथा ३९० से ४०४ तक का

—भावार्थ—

यहाँ ज्ञान को सर्व पर द्रव्यो से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न बतलाया है, इस से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नाम के जो लक्षण के दोष हैं वे दूर हुए। आत्मा का लक्षण उपयोग है और उपयोग में ज्ञान प्रधान है, वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इस से वह अतिव्याप्ति वाला नहीं है। और अपनी सर्व अवस्थाओं में है इस से अव्याप्ति वाला नहीं है। इस प्रकार ज्ञानलक्षण कहने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते।

यहाँ ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षण से ही आत्मा सर्व पर द्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनंत धर्म हैं, तथापि उन में से अनेक तो छद्मस्थ को अनुभवगोचर ही नहीं हैं, उन धर्मों को कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को किस प्रकार पहिचाने ? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उन में से अनेक तो-अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि तो-अन्य द्रव्यों के साथ साधारण अर्थात् समान हैं, इसलिए उनका कथन करने से भिन्न आत्मा नहीं जाना जा

सकेगा। और कितने ही धर्म पर द्रव्य के निमित्त से हुए हैं, उनके कथन से परमार्थभूत आत्मा का शुद्धस्वरूप किस प्रकार ज्ञात होगा? इसलिए ज्ञान को कहने से ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को जान सकते हैं।

यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है, इतना ही नहीं, परन्तु ज्ञान को ही आत्मा कहा है, क्योंकि अभेद विवक्षा में गुणगुणी का अभेद होने से, ज्ञान है वही आत्मा है। अभेदविवक्षा मे ज्ञान कहो या आत्मा कहो-कुछ भी विरोध नहीं है। इसलिए यहाँ ज्ञान कहने से आत्मा ही समझना चाहिए।

टीका के अन्त मे ऐसा कहा गया है कि-जो अपने मे अनादिअज्ञान से होने वाली शुभाशुभ उपयोगरूप पर-समय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, ऐसे स्वसमयरूप परि-णमनस्वरूप मोक्षमार्ग मे अपने को परिणमित करके, सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त हुआ है, और जिस मे कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात समयसारस्वरूप परमार्थ भूत, निश्चल स्थित, शुद्ध, पूर्णज्ञान को (पूर्ण आत्मद्रव्य को) देखना चाहिए। वहाँ 'देखना' तीन प्रकार से समझना चाहिए।

(१) शुद्धनय का ज्ञान करके पूर्णज्ञान का श्रद्धान करना-वह पहले प्रकार का देखना है। वह अविरत सम्य-ग्दृष्टि आदि अवस्थाओं मे भी होता है।

(२) ज्ञान-श्रद्धान होने के पश्चात् सर्व बाह्य परिग्रह का त्याग करके उसका (पूर्णज्ञान का) अभ्यास करना, उपयोग को ज्ञान में ही रोकना, जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्धसमान जाना है-श्रद्धा की है, वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना, पुनः पुनः उसी का अभ्यास करना,-वह दूसरे प्रकार का देखना है। यह देखना अप्रमत्त दशा में होता है। जहाँतक ऐसे अभ्यास से केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँतक वह अभ्यास निरंतर रहे। यह देखने का दूसरा प्रकार हुआ। यहाँतक तो पूर्णज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है।

(३) केवलज्ञान प्रगट हो तब साक्षात् देखना होता है-वह तीसरे प्रकार का देखना है। उस स्थिति में ज्ञान सर्व विभावों से रहित होता हुआ सर्व का ज्ञाता-दृष्टा है, इस से यह तीसरे प्रकार का देखना-वह पूर्णज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है।

3

पर से भिन्न शुद्धज्ञान के अनुभव का काव्य कहते हैं—

(शार्दूल विक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्ध ज्ञानघनो यथाऽस्यमहिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

अर्थः—अन्य द्रव्यों से भिन्न, अपने मे ही नियत, पृथक् वस्तुपने को धारण करता हुआ (वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक होने से, स्वयं भी सामान्यविशेषपने को धारण करता हुआ) ग्रहण-त्याग रहित, यह अमल (रागादि मल से रहित) ज्ञान इस प्रकार अवस्थित (निश्चल हुआ) अनुभव में आता है कि जिस प्रकार आदि-मध्य-अंतरूप विभागों से रहित—ऐसी सहज फैली हुई प्रभा द्वारा दैदीप्यमान—ऐसी इस की शुद्ध ज्ञानघनरूप महिमा नित्य उदित रहे, (शुद्धज्ञान के पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे)।

भावार्थः-ज्ञान का पूर्ण रूप सर्व को जानना है। वह जब प्रगट होता है तब सर्व विशेषणों सहित प्रगट होता है, इससे उस की महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता, सदैव उदयमान रहती है।

जैसा पर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा कहा—ऐसे ज्ञान-स्वरूप आत्मा का आत्मा मे धारण करना—वही ग्रहण करने योग्य सर्व ग्रहण किया और त्यागने योग्य सर्व त्याग दिया—ऐसे अर्थ का काव्य कहते हैं—

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ २३६ ॥

अर्थः—जिसने सर्व शक्तियाँ समेटी हैं (अपने में लीन की हैं) ऐसे पूर्ण आत्मा का आत्मा में धारण करना वही छोड़ने योग सब छोड़ दिया और ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण किया है।

भावार्थः—पूर्ण ज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तिओं के समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मा मे धारण कर रखना—वही त्यागने योग्य जो कुछ था वह सब त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था वह सब ग्रहण किया है। यही कृतकृत्य-पना है ।